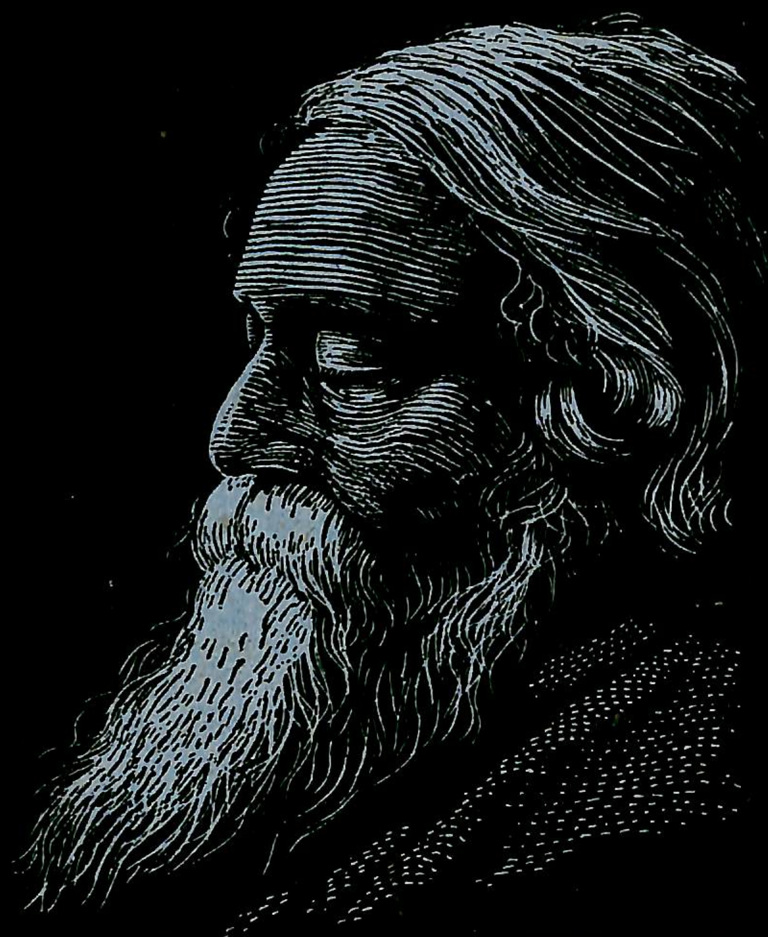
रवीन्द्र-साहित्य



अनुवादक : धन्यकुमार जैन

रवीन्द्र-साहित्य : भाग २४ :: साहित्यके पथपर

रवीन्द्र-साहित्य : भाग २४

साहित्यके पथपर

वास्तव, कविकी कैफियत, साहित्य, तथ्य और सत्य
सृष्टि, साहित्यमें नवीनता, साहित्य-विचार, आधुनिक
कविता, साहित्य-तत्त्व और साहित्यका तात्पर्य

★

अनुवादक
धन्यकुमार जैन

★

सहायक
हंसकुमार तिवारी

★

रवीन्द्र-साहित्य-मन्दिर
पी-१५, कलाकार स्ट्रीट
कलकत्ता-७

रवीन्द्र-साहित्यका
प्रत्येक भाग
एक पृथक
पुस्तक है

रवीन्द्र-साहित्यकी
समस्त रचनाएँ
मूल बंगलासे
अनूदित हैं

~~प्रत्येक सजिल्द भागका मूल्य २।२५~~

~~सवा-दो रुपया~~

मजबूत गत्तेकी जिल्द
मूल्य प्रति-भाग २।।)

धन्यकुमार जैन

प्रकाशक :
धन्यकुमार जैन और दौहित्र
पी-१५, कलाकार स्ट्रीट
कलकत्ता - ७

मुद्रक : ज्ञानेन्द्र शर्मा
जनवाणी प्रिण्टर्स एण्ड पब्लिशर्स प्रा. लि.
३६, वाराणसी घोष स्ट्रीट
कलकत्ता - ७

प्रस्तावना

रस-साहित्यके रहस्यकी चर्चा मैं बहुत दिनोंसे आग्रहके साथ करता आया हूँ। भिन्न-भिन्न समयके इन लेखोंमें उसका परिचय मिलेगा। विषय एक होनेसे एक बातको कई तरहसे कहना पड़ा है, प्रस्तावनामें यह कह देना जरूरी है।

मनके सहारे इस जगत्को हम बराबर जान ही रहे हैं। यह 'जानना' दो जातका है।

ज्ञानसे जानते हैं हम विषयको। इस 'जानने'का ज्ञाता रहता है पीछे, और ज्ञेय रहता है उसके लक्ष्यके रूपमें सामने।

भावसे जानते हैं हम अपनेको ही। तब विषय रहता है उपलक्ष्य-रूपमें उस 'अपने'के साथ मिला-हुआ।

विषयको जाननेका काम करता है विज्ञान। उस 'जानने'से अपने व्यक्तित्वको पृथक रखनेकी साधना ही है विज्ञानकी। मनुष्यका अपने-आपको देखनेका जो काम है उस कामको करता है साहित्य। उसकी सत्यता मनुष्यकी अपनी अनुभूति-उपलब्धिमें है, विषयके याथार्थ्यमें नहीं। भले ही वह अद्भुत वस्तु हो, अतथ्य हो, इससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। और तो क्या, उस अद्भुतकी उस अतथ्यकी उपलब्धि यदि निविड़ हो, तो साहित्य उसीको सत्य मान लेगा। मनुष्य शिशुकालसे ही नाना-रूपसे अपनी उपलब्धिकी क्षुधासे क्षुधित है,– रूपकथाका उद्भव उसीसे है। कल्पनाके जगत्में वह होना चाहता है नाना-रूप,– राम भी होता है और हनुमान भी होता है,– ठीक तरहसे होना-भर चाहिए, उसीमें वह खुश है। उसका मन पेड़के साथ पेड़ हो जाता है और नदीके साथ नदी। मन चाहता है मिलना, मिलकर वह खुश होता है। अपनेको लेकर मनुष्यकी यह जो वैचित्र्यकी लीला है, यह साहित्यका काम है। इस लीलामें सुन्दर भी है, असुन्दर भी है।

एक दिन मैंने स्थिर निश्चय कर रखा था कि सौन्दर्य-रचना ही साहित्यका प्रधान कार्य है। किन्तु, यह देखकर कि इस मतके साथ साहित्य और कला (आर्ट) की अभिज्ञताको मिलाया नहीं जा सकता, मनमें बड़ा सन्देह होने लगा।

झण्डूलाल या भोंदूदासको सुन्दर नहीं कहा जा सकता। इसमें साहित्यके सौन्दर्यको प्रचलित सौन्दर्यकी धारणामें पकड़ा नहीं जा सका।

तब फिर ऐसा लगा कि इतने दिनोंसे जिसे उलटी तरहसे कह रहा था उसे सीधी तरहसे कहना जरूरी है। कहा करता था, "सुन्दर आनन्द देता है इसीसे साहित्यमें सुन्दरका स्थान है।" वास्तवमें कहना चाहिए, "जो आनन्द देता है उसीको मन 'सुन्दर' कहता है, और वही साहित्यकी सामग्री है।" साहित्य किस चीजसे इस सौन्दर्यके बोधको जगाता है, यह बात गौण है। निविड़ बोधके द्वारा ही 'सुन्दर' प्रमाणित होता है। उसे 'सुन्दर' कहें या न कहें, इससे कुछ आता-जाता नहीं, विश्वके अनेक उपेक्षितोंमें मन उसीको अङ्गीकार कर लेता है।

साहित्यके बाहर इस 'सुन्दर' का क्षेत्र सङ्कीर्ण है। वहाँ प्राण-तत्त्वके अधिकृत मनुष्यको अनिष्टकर कुछ-भी आनन्द नहीं देता। साहित्य देता है। नहीं-तो 'ओथेलो' नाटकको कोई छू नहीं सकता था। इस प्रश्नने मेरे मनको उद्वेजित कर दिया था कि 'साहित्यमें दुःखकर कहानी क्यों आनन्द देती है, और इसके लिए क्यों हम उसे सौन्दर्यकी श्रेणीमें गिनते हैं?'

मनमें यह उत्तर आया, 'चारों तरफकी रस-हीनतामें हमारे चैतन्यमें जब स्पर्शानुभूति नहीं रहती तब वह अस्पष्टता दुःखकर होती है; तब आत्मोपलब्धि रहती है म्लान। मैं जो 'मैं' हूँ, इस बातकी अधिकसे अधिक उपलब्धि जिससे भी होगी उसीमें आनन्द मिलेगा। जब सामने या चारों तरफ ऐसा-कुछ रहता है जिसके सम्बन्धमें मैं उदासीन नहीं, जिसकी उपलब्धि मेरे चैतन्यको उद्बोधित किये रखती है, उसके आस्वादनमें मैं अपनेको निविड़-रूपसे पाता हूँ। इसके अभावमें अवसाद है। वस्तुतः मन नास्तित्वकी ओर जितना ही बढ़ता है उतना ही उसे दुःख है।

दुःखकी तीव्र उपलब्धि भी आनन्ददायक है, इसलिए कि वह निविड़ अस्मिता-सूचक है। इसमें केवल अनिष्टकी आशंका आकर बाधा देती है। यह आशंका न होती तो दुःखको मैं कहता 'सुन्दर'। दुःख हमको स्पष्ट कर देता है, अपने आगे अपनेको धुँधला नहीं रहने देता। गभीर दुःख 'भूमा' (परमात्मा) है। ट्रैजिडी (दुःखान्त) में वही 'भूमा' है; और वही 'भूमैव

सुखम्' है। मनुष्य वास्तव-जगत्‌में भय-दुःख-विपदको सर्वतोभावसे वर्जनीय समझता है, किन्तु साथ ही, अपनी आत्मानुभूतिको प्रबल और बहुल करनेके लिए दुःखादि पाये बिना वह स्व-भावसे वञ्चित रहता है। अपने स्वभावगत इस चाहनेको मनुष्य साहित्य और कलामें उपभोग कर रहा है। इसे हम कह सकते हैं 'लीला', कल्पनामें अपनी विशुद्ध उपलब्धि। राम-लीलामें मनुष्य शामिल होने जाता है खुशीसे; यदि वह 'लीला' नहीं होती, तो दुःखसे छाती फट-फट जाती।

यह बात जिस दिन पहले-पहल स्पष्ट-रूपसे मेरे मनमें आई उस दिन कवि कीट्सकी यह वाणी याद आई : Truth is beauty, beauty truth। अर्थात् जिस सत्यकी हम 'हृदा मनीषा मनसा' उपलब्धि करते हैं वही सुन्दर है। उसीमें हम अपनेको पाते हैं। यही बात याज्ञवल्क्य कह गये हैं, 'जो भी वस्तु मेरी प्रिय है उसमें मैं अपनेको ही सत्य-रूपमें पा पाता हूँ, इसीसे वह प्रिय है, वही सुन्दर है।'

मनुष्य अपने इस प्रियके क्षेत्रको, अर्थात् अपनी सुस्पष्ट उपलब्धिके क्षेत्रको साहित्यमें प्रतिक्षण विस्तीर्ण कर रहा है। उसका बाधा-हीन विचित्र विराट् लीलाका संसार है साहित्यमें।

सृष्टिकर्ताको हमारे शास्त्रोंमें कहा गया है लीलामय। अर्थात्, वह अपना रस-विचित्र परिचय पा रहा है अपनी सृष्टिमें। मनुष्य भी अपने भीतरसे अपनी सृष्टि करते-करते नाना भाव और नाना रसोंमें अपनेको पा रहा है। मनुष्य भी लीलामय है। मनुष्यके साहित्यमें और कलामें उस लीलाका इतिहास लिखित और अङ्कित होता जा रहा है।

अंग्रेजीमें जिसे कहते हैं real (वास्तव), साहित्य और कलामें वह हो रहा है इसीसे मनुष्य उसे अपने अन्तरसे अव्यवहित रूपसे स्वीकार करनेको बाध्य है। तर्कके द्वारा नहीं, प्रमाणके द्वारा नहीं, एकान्त उपलब्धिके द्वारा। मन जिसे कहता है 'यही तो निश्चित-रूपसे देखा, अत्यन्त-रूपसे अनुभव किया', जगत्‌के हजारों अचिह्नितोंमेंसे जिसपर वह अपने हस्ताक्षरकी मुहर लगा देता है, जिसे वह अपने चिर-स्वीकृत संसारमें भुक्त कर लेता है, वह, असुन्दर होनेपर भी मनोरम है; वह रस-स्वरूपकी सनद लेकर आया है।

सौन्दर्य-प्रकाश ही साहित्य या कलाका मुख्य लक्ष्य नहीं। इस विषयमें हमारे देशके अलङ्कार-शास्त्रोंमें चरम बात कह दी गई है : 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।'

मनुष्यने नाना प्रकारके आस्वादनमें ही अपनी उपलब्धि करनी चाही है बाधाहीन लीलाके क्षेत्रमें। उसी वृहत् विचित्र लीला-जगत्की सृष्टि है साहित्य।

किन्तु, इसमें मूल्य-भेदकी बात भी है ; क्योंकि यह तो विज्ञान नहीं है। सभी उपलब्धियोंका विचार-रहित एकसा मूल्य नहीं होता। आनन्द-सम्भोगमें मनुष्यके लिए निर्वाचनका कर्तव्य तो है ही। मनस्तत्त्वका कौतूहल चरितार्थ करना वैज्ञानिक बुद्धिका काम है। उस बुद्धिमें प्रमत्त असंलग्न-अव्यवस्थित असंयमको और अप्रमत्त आनन्दकी गभीरताको प्रायः समान आसन मिलता है। किन्तु, आनन्द-सम्भोगमें स्वभावतः ही मनुष्यके भेद-विचार होता है। कभी-कभी अति-तृप्तिकी स्वास्थ्य-हीनता आ जानेपर मनुष्य इस सहज बातको भूलने लगता है। तब वह भुँझलाकर स्पर्धाके साथ कुपथ्यसे मुँहका जायका बदलना चाहता है। कुपथ्यमें तेज ज्यादा होता है इसीसे मुँह जब मर जाता है तो उसीको समझ लिया जाता है 'भोजका चरम आयोजन'। किन्तु मन किसी दिन स्वस्थ होता ही है, मनुष्यका चिरकालका स्वभाव वापस आता ही है, और तब फिर आ जाते हैं सहज सम्भोगके सुदिन,— तबका साहित्य क्षणिक आधुनिकताकी भंगिमा छोड़कर चिरकालीन साहित्यके साथ सरल-भावसे मिल जाता है।

आश्विन १९९३ —रवीन्द्रनाथ ठाकुर

वास्तव

'लोग कुछ भी ठीकसे नहीं करते, संसारमें जैसा होना चाहिए था वैसा नहीं होता, समय-काल खराब पड़ा है' ऐसी दुश्चिन्ताएँ प्रकट करके आदमी मजेमें आरामसे रहा करता है ; उसके भोजन-शयनमें जरा भी अड़चन नहीं पड़ती, ऐसा प्रायः देखा जाता है । दुश्चिन्ताकी आग जाड़ेकी आग-जैसी ही उपादेय होती है वशर्ते कि वह पासमें हो किन्तु बदनमें न लगे ।

इसलिए, यदि कोई इस तरहकी बात कहता कि 'देशके कविगण जिस साहित्यकी रचना कर रहे हैं उसमें वास्तवता नहीं है, वह लोकोपयोगी नहीं है, उससे जन-शिक्षाका काम नहीं चल सकता', तो बहुत सम्भव था कि देशकी दशापर उद्वेग प्रकट करके मैं भी कहता, 'बात तो सही है', और अपनेको उस श्रेणीसे अलग गिनता ।

किन्तु एकदम मेरे ही नामके साथ इन बातोंका उपयोग करनेसे, औरोंको चाहे जितनी भी खुशी हो, मैं उस खुशीमें खुले मनसे साथ नहीं दे सकता ।

किन्तु हाँ, कोहवरमें दूल्हेकी और पाठक-समाजमें लेखककी दशा लगभग एक-ही-जैसी होती है । दोनोंको कानकी जड़में बहुत-सारे कठोर कौतुकोंको चुपचाप सहना पड़ता है । वे जो सह लेते हैं उसका कारण यह है कि एक बातमें उन्हींकी जीत है । सतानेको कोई चाहे जितना ही सता ले, किन्तु जो दूल्हा है उसकी दुलहिनको कोई हरण नहीं कर सकता ; और, जो लेखक है उसकी रचना तो उसीकी रह जाती है ।

लिहाजा, अपने विषयमें मुझे कुछ नहीं कहना । किन्तु इस मौकेसे साधारण तौरपर साहित्यके सम्बन्धमें कुछ कहा जा सकता है । वह निहायत अप्रासङ्गिक नहीं होगा । क्योंकि, यद्यपि पहले ही नम्बरमें मेरी ही रचनाको सेशन सुपुर्द किया गया है, तथापि इस खबरकी भी गन्ध फैल चुकी है कि आजकलके लगभग सभी लेखकोंका यही एक ही अपराध है ।

वास्तवताका न होना बेशक एक बहुत बड़ा धोखा है । चीज कुछ भी न मिले, फिर भी दाम देकर हँसता-हँसता चला जाय ऐसे हतबुद्धि लोगोंके लिए तो पक्का अभिभावक नियुक्त होना ही चाहिए । अभिभावक होने-योग्य आदमी

वही हैं जिन्हें ये कवि कला-कौशलमें चटसे ठग नहीं सकें और जो इशारेसे ही समझ जायें कि वस्तु कहाँ है और कहाँ नहीं है। अतएव, जो ऐसे अवास्तव साहित्यसे देशको सतर्क किये दे रहे हैं वे नाबालिग और अयोग्य पाठकोंके लिए 'कोर्ट ऑव वार्ड्स' खोलनेका काम कर रहे हैं।

किन्तु, समालोचक चाहे कितने ही बड़े विचक्षण क्यों न हों, पाठकोंको हमेशा वे अपनी गोदीमें लिये-लिये क्यों न फिरा करें, फिर भी, यह न तो धात्रीके हकमें अच्छा है, न धृतके। पाठकोंको ठीक-ठीक यह समझा देना उचित है कि क्या 'वस्तु' है और क्या 'वस्तु नहीं' है।

कठिनाई यह आ पड़ती है कि वस्तु एक नहीं होती, और हर जगह हम एक ही वस्तुकी खोज भी नहीं करते। मनुष्यकी प्रकृति होती है बहुधा, उसके प्रयोजन भी अनेक हैं; और फिर, वस्तुकी विविधताकी खोजमें उसे भटकना भी पड़ता है। अब जानना यह है कि साहित्यमें हम किस वस्तुकी खोज किया करते हैं। पण्डितोंका कहना है, वह वस्तु है 'रस'। कहना फिजूल है कि यहाँ रस-साहित्यकी ही चर्चा हो रही है। यह रस एक ऐसी बला है कि उसपर यदि विवाद शुरू हो तो हाथापाईकी नौबत आ जाय, और एक या दोनों दलोंके भूमिसात् होनेपर भी उसकी कोई मीमांसा न हो सके।

'रस' एक ऐसा पदार्थ है जो रसिककी अपेक्षा रखता है,— मात्र अपने ही बूतेपर वह अपने अस्तित्वको प्रमाणित नहीं कर सकता। विद्वान्, बुद्धिमान, देश-हितैषी, लोकोपकारी आदि अनेक प्रकारके अच्छे लोग संसारमें हैं, किन्तु जिस प्रकार दमयन्तीने देवताओंको छोड़कर नल ही के गलेमें माला डाली थी उसी प्रकार स्वयंवर-सभामें 'रस-भारती' और-सबोंको छोड़कर रसिकोंकी ही खोज किया करती है।

समालोचक छाती फुलाकर और ताल ठोंककर कहते हैं, 'वह रसिक मैं ही हूँ।' प्रतिवाद करनेका साहस तो नहीं होता, किन्तु संसारमें ऐसी अभिज्ञता शायद ही कहीं देखी जाती है कि कोई अरसिक अपनेको अरसिक समझता हो। अपनेको क्या अच्छा लगा और क्या अच्छा नहीं लगा, इसीमें रस-परीक्षाकी चरम मीमांसा है, इस विषयमें पन्द्रह-आना लोगोंको कोई सन्देह नहीं। यही कारण है कि साहित्य-समालोचनामें विनय नहीं होती। पूँजी हो चाहे न

हो, गुटबन्दीमें उतर आनेमें किसीको कोई बाधा नहीं होती। ठीक इसी तरह साहित्य-समालोचनामें आवश्यक किसी मूलधनके लिए कोई सब्र नहीं करता, क्योंकि समालोचकका स्थान सब प्रकारसे निरापद होता है।

जब कि साहित्यकी कसौटीका काम इतना ही अनिश्चित है, तो फिर उन लोगोंके लिए क्या चारा रह जाता है जो साहित्यकी रचना करते हैं? कोई आशु उपाय तो नजर नहीं आता। यानी, यदि वे कोई निश्चित परिणाम जानना चाहते हों, तो उस जाननेके कामको उन्हें अपने परपोतोंपर ही छोड़ देना चाहिए। उनके अपने भाग्यमें जो नकद-विदाई मिलती है उसपर भरोसा नहीं किया जा सकता।

रस-विवेचनमें व्यक्ति और कालगत भूलके संशोधनके लिए यह आवश्यक है कि विचारणीय वस्तुको अनेक व्यक्ति और लम्बे समयके भीतरसे बहा ले जाया जाय, तभी सन्देह मिट सकता है।

किसी कविकी रचनामें 'साहित्य-वस्तु' है या नहीं, इसके समझने-योग्य समझदार कविके समसामयिकोंमें अवश्य ही बहुत-से मिल सकते हैं, किन्तु वे ही उपयुक्त समझदार हैं या नहीं, इसका आखिरी फैसला करानेमें ठगाया जाना असम्भव नहीं है।

ऐसी दशामें लेखकोंको एक बातकी सुविधा है। वह यह कि उन्हें यह मान लेनेमें बाधा नहीं है कि उनकी रचनाओंको जो पसन्द करता है वही समझदार है। दूसरे दलवालोंको यदि वे योग्य न गिनें, तो लगे-हाथ उनपर मामला दायर किया जा सके, ऐसा कोई विचारालय नजर नहीं आता। हाँ, कालकी अदालतमें उसपर विचार जरूर चलता रहता है, किन्तु उस दीवानी अदालत जैसी दीर्घसूत्री अदालत अंग्रेजोंके देशमें भी नहीं है। इस स्थितिमें जीत कविकी ही रही, इसलिए कि बहरहाल कब्जा उसीका रहा। कालका पियादा जिस दिन उसकी यश-सीमापरके खूँटेको उखाड़ फेंकनेके लिए आयेगा उस दिन तक उस तमाशेको देखनेके लिए समालोचक तो धीरज धर नहीं सकेगा।

जो लोग आधुनिक साहित्यमें वास्तवताको तलाश करते-हुए हाँफ उठे हैं, मेरी इस बातके उत्तरमें वे कहेंगे, 'यह ठीक है कि तराजूके पलड़ेपर चढ़ाकर

'रस'-वस्तुका परिमाण नहीं आँका जा सकता, किन्तु रस आखिर किसी वस्तुके आश्रयसे ही तो रूप पाता है। उसी आश्रयसे हमें वास्तवताके विचारका अवसर मिलता है।'

निस्सन्देह रसका एक आधार होता है; और इसमें भी सन्देह नहीं कि वह माप-दण्डके दायरेमें आ सकता है। किन्तु उसी पदार्थ-पिण्डको तौलकर क्या साहित्यकी कीमत जाँची जा सकती है?

रसमें नित्यता होती है। मान्धाताके युगमें लोगोंने जिस रसका उपभोग किया है, आज भी वह त्याज्य नहीं हुआ है। किन्तु चीजकी कीमत बाजारके हिसाबसे सुबह-शाम बदल जाया करती है।

अच्छा, मान लिया जाय कि कविताको वास्तव बनानेका लोभ मुझसे सम्हालते नहीं बनता; और मैं इस खोजमें पिल पड़ा कि देशमें कौन-सी बात वास्तव हो उठी है। मुझे लगा कि देशमें ब्राह्मण-सभा रेलके सिगनलके खम्भेकी तरह आँखें लाल किये एक पैरपर सबसे ऊँचा सिर उठाये खड़ी है। कायस्थ जनेऊ लिये बिना नहीं माननेके और ब्राह्मण-सभा उनका जनेऊ छीने बिना चैन नहीं लेनेकी – यह हलचल हमारे यहाँ विश्व-व्यापारोंमें सर्वापेक्षा प्रबल हो उठी है। लिहाजा, कवि यदि अपनी रचनामें इस विषयका पुट नहीं चढ़ाता, तो मानना पड़ेगा कि वास्तवताके बारेमें उसका ज्ञान बड़ा ही क्षीण है। सो, सोच-समझकर मैंने 'यज्ञोपवीत-संहार' काव्य लिख मारा। वजनमें तो वह वस्तुपिण्ड हलका नहीं हुआ। किन्तु, हाय रे हाय, फिर भी प्रश्न बना ही रहता है, सरस्वतीने अपना आसन वस्तुपिण्डपर बिछाया है या कमलपर?

ऐसा दृष्टान्त देनेका एक खास कारण है। विचारकोंकी दृष्टिमें वास्तवता क्या चीज है उसका एक सूत्र मैं पकड़ सका हूँ। एक फरियादीने मेरे विरुद्ध यह कहा है कि मेरी समस्त रचनाओंमें वास्तवताका जो-कुछ भी थोड़ा-बहुत उपकरण जमा हुआ है वह केवल 'गोरा' उपन्यासमें।

'गोरा' उपन्यासमें क्या वस्तु है क्या नहीं है, यह बात उस उपन्यासका लेखक सबसे कम समझता है। लोगोंके मुँह मैंने सुना है, 'उसमें प्रचलित हिन्दुत्वकी अच्छी व्याख्या है।' इसीसे मैं अन्दाज लगा रहा हूँ कि वही एक वास्तवताका लक्षण है।

आजके दिन कुछ विशेष कारणोंसे हिन्दू अपने हिन्दुत्वको लेकर भयङ्कर रूपसे विक्षुब्ध हो उठे हैं। उसपर उनके मनकी धारणा सहज स्थितिमें नहीं है। 'विश्वकी रचनामें यह हिन्दुत्व ही विधाताकी चरम कीर्ति है, और इसीमें अपनी सारी शक्ति समाप्त करके वह और-किसी भी तरफ अग्रसर नहीं हो पा रहा है' यह हमलोगोंका नारा बन गया है। साहित्यकी वास्तवताको तौलते समय यह नारा बटखरेका काम करता है। कालिदासको हम अच्छा कहते हैं, क्योंकि उनकी कवितामें हिन्दुत्व है। बङ्किमचन्द्रको हम अच्छा कहते हैं, क्योंकि अपने पतिके प्रति हिन्दू-ललनाका जैसा मनोभाव हिन्दू शास्त्र-सम्मत है वह उनकी नायिकाओंमें मिलता है ;—अथवा उनकी हम निन्दा करते हैं, इसलिए कि वह भाव पर्याप्त-परिमाणमें उनमें नहीं पाया जाता।

दूसरे देशोंमें भी ऐसा होता है। इंग्लैण्डमें इम्पीरियलिज्मका ज्वरोत्ताप जिन दिनों घड़ी-घड़ी चढ़ता ही चला जा रहा था उन दिनों एक श्रेणीके अंग्रेज कवियोंकी रचनाओंमें उसीकी रक्तवर्ण वास्तवता प्रलाप बक रही थी।

उससे यदि तुलना की जाय तो वर्ड्स्वर्थकी कवितामें वास्तवता कहाँ है? उन्होंने विश्व-प्रकृतिमें जिस एक आनन्दमयके आविर्भावको देखा था, उसके साथ अंग्रेज जनसाधारणकी शिक्षा-दीक्षा आचार-विचार और अभ्यासका मेल कहाँ था? उनके भावोंकी रागिनी एकान्तवासी एकाकी कविकी चित्त-वंशीमें बजी थी,—अंग्रेजोंके स्वदेशी बाजारमें तौलके हिसाबसे जो बिका करता है वैसा ठोस पदार्थ उसमें क्या था, मैं जानना चाहता हूँ।

और, कीट्स और शेली, इनकी रचनाओंकी वास्तवता कैसे निर्धारित करूँ? अंग्रेजोंकी राष्ट्रीय-चेतनाके सुरमें सुर मिलाकर क्या इन्होंने पुरस्कार और वाहवाही पाई थी? जो समालोचक साहित्यकी हाटमें वास्तवताकी दलाली किया करते हैं उन्होंने वर्ड्स्वर्थकी कविताका कैसा समादर किया था, सौ इतिहासमें लिखा है। सारे देशने शेलीको अन्त्यजकी तरह घरमें प्रवेश नहीं करने दिया, और कीट्सको तो मृत्युवाण ही मार दिया था।

इससे भी आधुनिक उदाहरण है टेनिसनका। टेनिसन थे विक्टोरिया-युगके प्रचलित लोकधर्मके कवि। इसीसे उनका प्रभाव देशमें सर्वव्यापी था। किन्तु उस युगकी वास्तवता जितनी ही क्षीण होती जाती है, टेनिसनका आसन

भी उतना ही सङ्कीर्ण होता आ रहा है। उनकी रचनाएँ जिस विशेषतापर टिकेंगी वह है नित्यरसकी विशेषता, इसलिए नहीं कि उसमें विक्टोरिया-युगकी ब्रिटिश-वस्तु पर्याप्त मात्रामें है। वह स्थूल वस्तु तो दिन-दिन धसकती चली जा रही है।

'आजके लेखकोंका सबसे बड़ा अपराध यह है कि उन्होंने अंग्रेजी पढ़ी है। अंग्रेजी शिक्षा भारतीय लेखकोंके लिए वास्तव नहीं है, अतएव वह वास्तवताका हेतु भी नहीं है, और इसीलिए आजका साहित्य देशके जनसाधारणको शिक्षा और आनन्द नहीं दे सकता।'

ठीक है। किन्तु, देशमें जिन लोगोंने अंग्रेजी नहीं पढ़ी उनके मुकाबले अंग्रेजी-पढ़े लोगोंकी संख्या तो तुच्छ है। उनकी कलम तो किसीने छीन नहीं ली है। हम केवल अपनी अवास्तवताके बलपर देशके सभी वास्तववादियोंसे बाजी मार लें, यह स्वभावका नियम नहीं है।

शायद इसका उत्तर यह हो कि 'हम हार रहे हैं। जिन लोगोंने अंग्रेजी नहीं सीखी, वास्तव-साहित्यकी सृष्टि वही लोग कर रहे हैं, और, वही टिकेगा और लोक-शिक्षाका साधन होगा।'

यदि ऐसा ही हो, तो फिर फिक्र ही किस बातकी है! देशमें वास्तव साहित्यका विस्तृत क्षेत्र और आयोजन भरा पड़ा है, उसमें छिटपुट अवास्तव पल-भरको भी नहीं टिक सकता।

किन्तु, उस विराट् वास्तव साहित्यको मैं आँखोंसे देख लेता तो बड़ा काम बनता,—एक आदर्श तो मिलता। जब तक उसका परिचय नहीं पाता तब तक केवल बाहु-बलसे ही यदि उसे मान लूँ तो वह वास्तविक नहीं किन्तु काल्पनिक होगा।

और इधर अंग्रेजीदाँ लोगोंने जिस साहित्यकी रचना की, गुस्सेमें उसे गाली देनेपर भी वह बढ़ता ही जा रहा है। उसकी निन्दा करनेपर भी उसे अस्वीकार करनेका उपाय नहीं। यही वास्तवका सही लक्षण है। यह जो कोई-कोई आदमी खामखा क्रोध करके उसे उखाड़ फेंकनेकी चेष्टा कर रहे हैं, इसका भी एक कारण है, यह कि वह स्वप्न नहीं है, माया नहीं है, वह वास्तव है।

अंग्रेजी शिक्षा जादूकी लकड़ी जैसी हमारे जीवनको छू गई है और उसने हमारे अन्तरके वास्तवको ही जगाया है। जो लोग इस वास्तवसे डरते हैं, जो बद्ध नियमोंकी जंजीरको ही श्रेय मानते हैं, वे चाहे अंग्रेज हों चाहे भारतीय, वे शिक्षाको ही भ्रम और जागृतिको अवास्तव कहकर टाल देनेका भान करते रहते हैं। ऐसे लोगोंका गिना-गिनाया तर्क यही होता है कि 'एक देशका आघात दूसरे देशको सचेतन नहीं कर सकता।' किन्तु, दूर-देशकी दक्षिणी हवाने देशान्तरके साहित्य - कुञ्जमें फूलोंका उत्सव जगाया है, इसका प्रमाण इतिहासमें है। जहाँसे भी हो और जैसे भी हो, जीवनकी चोटसे जीवन जाग उठता है, मानवके मनस्तत्त्वका यह एक चिरकालिक वास्तव व्यापार है।

'किन्तु, लोक-शिक्षाका क्या होगा ?'

इस बातका उत्तरदायित्व साहित्यपर नहीं है।

जनता यदि साहित्यसे शिक्षा-ग्रहणकी चेष्टा करे तो शायद पा भी सकती है; किन्तु, साहित्यको उसे शिक्षा देनेकी कोई चिन्ता नहीं होती। किसी भी देशमें साहित्यने स्कूल-मास्टरका भार नहीं लिया है। रामायण-महाभारतको देशके सभी लोग पढ़ते हैं, किन्तु इसलिए नहीं पढ़ते कि वे किसानोंकी भाषामें लिखे गये हैं या उनमें गरीब-दुःखियोंकी बातें लिखी गई हैं; उनमें तो बड़े-बड़े राजा, बड़े-बड़े राक्षस, बड़े-बड़े वीर और बड़े-बड़े वानरोंकी बड़ी-बड़ी पूँछोंकी ही बातें लिखी हैं, शुरूसे अन्त तक सब-कुछ असाधारण ही है। जनसाधारणने अपनी गरजसे उस साहित्यको पढ़ना सीखा है।

साधारण लोग 'मेघदूत' 'कुमारसम्भव' या 'शकुन्तला' नहीं पढ़ते। बहुत सम्भव है, दिङ्नागाचार्यने इन ग्रन्थोंमें वास्तवताकी कमी देखी हो। 'मेघदूत' की तो पूछिये ही मत, स्वयं कालिदासको ऐसे वास्तववादियोंके डरसे एक जगह निहायत अकवि-जनोचित कैफियत देनेको विवश होना पड़ा है,—'कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु।'

'अकवि-जनोचित' मैं इसलिए कह रहा हूँ, क्योंकि जितने भी कवि हैं वे चेतन और अचेतनका मेल कराते हैं। इसलिए कि वे संसार-भरके मित्र होते हैं, न्यायके अध्यापक नहीं होते। 'शकुन्तला' के चतुर्थ अङ्कको पढ़ लेनेपर यह आसानीसे समझा जा सकता है।

किन्तु मेरा कहना है, यदि कालिदासकी कविता अच्छी है, तो वह सभी लोगोंके लिए सभी कालोंके भंडारमें संचित रही समझिये,—आजकी जनता जिसे नहीं समझ सकी, शायद कलके लोग उसे समझेंगे, कमसे कम आशा तो ऐसी ही करना चाहिए। किन्तु कालिदास यदि कविके बजाय लोकहितैषी होते, तो हो सकता है कि पाँचवीं सदीके खेतिहरोंकी प्राथमिक शिक्षामें काम आनेवाली कुछ किताबें लिख जाते। उस दशामें उनके बादकी इतनी सदियोंकी क्या दशा होती!

तो क्या आप समझते हैं, तब कोई लोकहितैषी था ही नहीं? जनसाधारण की नैतिक और जाठरिक उन्नतिकी चिंता करते हुए तब क्या किसीने कोई पुस्तक लिखी ही नहीं? किन्तु, वह क्या साहित्य था? साल खत्म होते-होते पाठ्य पुस्तकोंकी जो दशा हुआ करती है, उन पुस्तकोंके भाग्यमें भी वही हुआ होगा।

जो अच्छी वस्तु है उसे पानेके लिए साधना करनी ही पड़ती है, राजाके लड़केको भी और किसानके लड़केको भी। राजपुत्रको सुविधा है तो इतनी ही कि उसके पास साधना करनेके लिए समय है। किसानके पुत्रको वह सुविधा नहीं है। किन्तु, यह बात सामाजिक व्यवस्थाके अन्दर आती है। यदि इसका प्रतिकार सम्भव हो तो कीजिये, किसीको उज्र नहीं होगा। किन्तु इस बात पर तानसेन मीठे सुर तैयार करनेकी धुनमें नहीं लग जायेंगे। उनकी सृष्टि आनन्दकी है, और वह जो या जैसी है वैसी ही रहेगी। किसी और अभिप्रायसे वह अन्य कुछ नहीं हो सकती। जो रसके पिपासु हैं वे चेष्टा करके उन ध्रुपदोंके निगूढ़ मधु-कोषमें डूब जायेंगे। हाँ, जन-साधारणको जब तक उस मधु-भाण्डारका सही मार्ग नहीं ज्ञात होगा तब तक उसके लिए तानसेनके गीत अवास्तव ही हैं, यह मानना पड़ेगा। इसीलिए मैं कह रहा था, किस वस्तुकी कहाँ खोज करनी है, कैसे खोज करनी है और उसे खोजनेका अधिकारी कौन है, अपनी कल्पना या खामखयालीसे बातकी बातमें इन बातोंको प्रमाणित या अप्रमाणित नहीं किया जा सकता।

अब आप पूछें, 'आखिर कवियोंका अवलम्बन क्या है? किसी एक चीज का सहारा तो उन्होंने लिया ही है।' बेशक सहारा लिया है। वह सहारा है आन्तरिक अनुभूति और आत्म-प्रसाद। यदि कविने एक वेदनामय चैतन्यको

लेकर जन्म ग्रहण किया है, यदि वह अपनी प्रकृतिसे ही विश्व-प्रकृति और मानव-प्रकृतिके साथ आत्मीयता जोड़ता है, यदि वह शिक्षा अभ्यास प्रथा शास्त्र आदि जड़ आवरणमेंसे लौकिक नियमोंके ही माध्यमसे संसारके साथ व्यवहार नहीं करता, तो समग्रके संसर्गसे वह जो भी अनुभव करेगा उसकी वास्तवताके बारेमें उसे किसी प्रकारका सन्देह नहीं रह सकता। उसने विश्व-वस्तु और विश्व-रसको अव्यवहित-रूपसे अपने जीवनमें उपलब्ध किया है, यहीं तो उसका जोर है। यह मैं पहले ही कह चुका हूँ कि सदर बाजारमें चीजोंका मूल्य घटता बढ़ता ही रहता है,– वहाँ नाना मुनियोंके नाना मत हैं, अलग-अलग लोगोंकी अलग-अलग फरमाइशें हैं, युग-युगका अपना-अपना फैशन है। वास्तवताके इस होहल्लामें पड़कर कविकी कविता बाजारू हो जायगी। उसके हृदयमें जो ध्रुव आदर्श है उसपर निर्भर करनेके सिवा और कोई उपाय ही नहीं। यह आदर्श अंग्रेजों या हिन्दुओंका आदर्श नहीं है, और न वह लोकसेवी या स्कूल-मास्टरका ही आदर्श है। वह आनन्दमय होनेसे अनिर्वचनीय है। कवि जानता है कि जो वस्तु उसके आगे इतनी अधिक सत्य है वह और-किसीके भी लिए मिथ्या नहीं हो सकती। यदि वह किसीके लिए मिथ्या है तो समझना होगा कि वह मिथ्या ही मिथ्या है। आँख मूँदकर रहनेवालेके आगे प्रकाश जिस तरह झूठा है, यह झूठ भी वैसा ही झूठ है। रचनाकी वास्तवताके विषयमें कविमें अपने भीतर जो प्रमाण है, उसे पता है कि वह प्रमाण विश्व-भरमें है। उस प्रमाणकी अनुभूति हर-किसीको नहीं होती, अतएव विचारककी गद्दीपर जो चाहे बैठकर चाहे-जैसी राय दे सकता है, किन्तु ऐसा नहीं हो सकता कि डिक्री जारी होते वक्त वह फतवा काम आयेगा ही।

कविकी आत्मानुभूतिके जिस उपादानका मैंने जिक्र किया है, सब कवियोंमें सभी समय वह विशुद्ध ही रहता हो ऐसी बात नहीं है। नाना कारणोंसे कभी वह ढक जाता है, कभी विकृत हो जाता है और कभी नकद दामके प्रलोभनसे बाजार-भावके मुताबिक नकली रेखाएँ खिचती हैं; यही कारण है कि उसका प्रत्येक अंश नित्य नहीं होता और न सभी अंशोंका समान आदर ही हो सकता है। इसलिए, कवि चाहे बिगड़े या खुश हो, उसकी रचनाका विचार करना ही पड़ेगा, और, जो कोई भी उसकी रचनाको पढ़ेगा वही उसका विचार

करेगा, और उस विचारमें सब-कोई एकमत नहीं होंगे। थोड़ेमें, यदि कविको वास्तविक आत्म-प्रसाद मिला हो तो समझिये कि अपना पावना वह पा चुका है। अवश्य ही, मूल पानेके बजाय ऊपरी आमदनीका लोभ बड़ा होता है। इसी कारण आस-पास, इधर-उधर, छिपकर या जाहिरा इस तरह हाथ फैलाना पड़ता है। मुसीबत यहीं होती है। क्योंकि लोभसे पाप और पापसे मृत्यु होती है।

बंगला-रचना : श्रावण १६७१

कविकी कैफियत

हमलोग जिस व्यापारको कहते हैं जीव-लीला, पश्चिम-समुद्रके उस पार उसीको कहते हैं जीवन-संग्राम।

इसमें कोई हर्ज नहीं था। किसी एक चीजको हम यदि कहते हैं 'नाव खेना' और आप कहते हैं 'डाँड़ चलाना', एक काव्यको हम अगर कहते हैं 'रामायण' और आप 'राम-रावणकी लड़ाई', तो इसके लिए अदालत बैठानेकी कोई जरूरत नहीं थी।

किन्तु, मुसीबत यह है कि इसके व्यवहारमें आजकल हमें लज्जाका अनुभव होने लगा है। 'जीवन महज जीव-लीला है'—इस बातको सुनकर दुनियाके पहलवानोंका दल क्या कहेगा, जो तीन-लोकमें ताल ठोंककर लड़ाई ही लड़ते फिरते हैं!

किन्तु, मैं कबूल करता हूँ, मुझे इसमें लज्जा नहीं लगती। इसके लिए मेरे अंग्रेजी-मास्टर मुझे सबसे बड़े शब्द-भेदी वाणसे मार सकते हैं। वे कह सकते हैं, 'भई, तुम तो निरे ओरिएण्टल हो।' पर उससे मैं मारा नहीं जाऊँगा।

'लीला' कहनेसे पूरी बात कही जाती है, और लड़ाई कहें तो सिर और पैर बाद पड़ जाते हैं। आखिर इस लड़ाईका शुरू कहाँ है और अन्त कहाँ है? भँगेड़ी विधाताका भाँगका प्रसाद पाकर सहसा हमारा यह कैसा पागलपन!

क्यों भाई, लड़ाई आखिर किसलिए ?

जीनेके लिए।

नाहक मेरे जीनेकी जरूरत क्या ?

नहीं जीओगे तो मर जो जाओगे !

मर ही गया तो क्या ?

मरना चाहते जो नहीं।

क्यों नहीं चाहता ?

बस इसीलिए कि नहीं चाहते।

इसी बातको अगर एक शब्दमें कहना पड़े, तो कहना होगा, "लीला।" जीवनमें जीनेकी अहेतुक इच्छा होती है। यह इच्छा ही सबसे अन्तिम बात है। चूँकि यह इच्छा है इसीलिए हम लड़ते हैं, दु:खको मान लेते हैं। इन सब जोर-जुल्मोंकी आखिरी हदपर एक खुशी है,– उसके उस पार जानेका उपाय नहीं, और न प्रयोजन ही। शतरंजका खेल शुरूसे आखिर तक खेल ही है,– बीचमें मुहरोंकी चाल है और महा दुश्चिन्ता। यह दु:ख न हो तो फिर खेलके कोई मानी ही नहीं। इसके विपरीत खेलमें यदि आनन्द न हो तो दु:खके समान निदारुण निरर्थकता और कुछ नहीं। ऐसी स्थितिमें मैं यदि शतरंजको 'खेल' कहता हूँ और आप मुहरोंकी लड़ाई, तो मैं यह हरगिज नहीं मान सकता कि आपने मुझसे जरा भी ज्यादा कहा है।

किन्तु, यह सब करनेकी जरूरत क्या ? यह जीवन या यह जगत् 'लीला' है, यह बात सुनते ही लोग फिर हाथ-पैर नहीं हिलाना चाहेंगे।

इसी बातके सुनने न-सुननेपर अगर मनुष्यका काम-काज करना न-करना निर्भर है, तो सबसे पहले उस विधाताका ही मुँह सीं देना चाहिए जिसने इस विश्वको बनाया है। एक मामूली-से कविपर गरम होनेमें कोई बहादुरी नहीं।

क्यों, सृष्टिकर्ता क्या कहते हैं ?

वे और चाहे जो भी कहते हों, इस लड़ाईकी चर्चाको जहाँ तक बनता है, दबाये रहते हैं। मनुष्यका विज्ञान बताता है, 'सारी सृष्टिमें अणु-परमाणुकी लड़ाई जारी है।' किन्तु, कवि जब इस समरभूमिकी ओर आँखें दौड़ाते हैं तो

यह लड़ाई फूल होकर खिलती है, तारा बनकर चमकती है, नदी होकर बहती है और बादल बनकर उड़ती दिखाई देती है। जब हम वस्तुको उसकी समग्रतामें देखते हैं तो पाते हैं, भूभाके क्षेत्रमें सुरसे सुरका सम्मिलन होता है, रेखासे रेखाका योग होता है, रंगसे रंगकी मालाकी अदला-बदली होती है। किन्तु विज्ञान इस समग्रतासे विच्छिन्न करके दलबन्दी धक्कमधक्का हाथापाई ही देखता है। वह सत्य विज्ञानका सत्य हो सकता है, किन्तु वह सत्य कविका भी नहीं, कविगुरुका भी नहीं।

'अन्य कवियोंकी रहने दीजिये, आप अपनी कहिये।'

खैर, यही सही। आपलोगोंकी यह शिकायत है कि 'खेल छुट्टी आनन्द यह सब बातें मेरी रचनाओंमें घूम-फिरकर आती ही रहती हैं।' यदि यही सच हो तो समझना होगा कि किसी एक सत्यने मुझे धर दबाया है। उसके चंगुलसे बच निकलनेका कोई रास्ता नहीं। अतएव अबसे मैं विधाताकी तरह बेहया होकर एक ही बातको हजार वार कहा करूँगा। यदि कुछ गढ़कर कहना होता, तो हर बार नई बात नहीं कह पानेसे शर्मिन्दा होना पड़ता। किन्तु सत्यके लिए कोई लज्जा नहीं है, भय नहीं है, चिन्ता नहीं है। सत्य स्वयंको ही प्रकट करता है; अपनेको प्रकट करनेके सिवाय उसके लिए और कोई उपाय नहीं, इसीलिए वह लापरवा होता है।

आप कहेंगे, 'इसमें तो तुम्हारे अहङ्कारकी बू आ रही है।'

किन्तु जब सत्यकी दुहाई देकर निन्दा करनेमें कोई दोष नहीं, तो सत्यकी दुहाई देकर अहङ्कार करनेमें भी कोई दोष नहीं। लिहाजा, दोनों बराबर।

हम विषयसे अलग हो गये। जिस बातपर तर्क हो रहा था वह यह थी कि संसारकी शक्तिकी लड़ाईको ही मुख्य-रूपसे देखना अवच्छिन्न देखना है, अर्थात् 'गीतको छोड़कर स्वरकी कवायद देखना।' वास्तवमें आनन्दको देखना ही समग्रको देखना है। यह बात हमलोगोंके देशकी विशेषता है। उपनिषद्की चरम वाणी ही है, "आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं सम्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।" 'आनन्दसे ही सब-कुछकी उत्पत्ति होती है, उसीसे सब-कुछ जीवित है, सब-कुछ आनन्द ही की ओर अग्रसर होता है।'

यही यदि उपनिषद्की चरम वाणी है, तो क्या ऋषि यह कहना चाहते हैं कि 'संसारमें पाप नहीं है, दुःख नहीं है, हिंसा-द्वेष नहीं है ?' हमलोग तो अधिकतर इन्हीं बातोंपर जोर देना चाहते हैं, नहीं-तो मनुष्य चेतेंगे कैसे !

इसका उत्तर उपनिषद्ने दिया है, 'कोह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् ।' कौन तो शरीरकी चेष्टा करता और कौन प्राणका प्रयास करता, अर्थात्, कौन मेहनत-मजूरीको रञ्चमात्र भी स्वीकार करता यदि आनन्द आकाशमय छाया नहीं रहता ? अभिप्राय यह कि चूँकि आनन्द ही अन्तिम बात है इसलिए जगत् दुःख-द्वन्द्वको सह ले सकता है। केवल यही नहीं, दुःखके परिमापमें ही आनन्दका परिमाप है। हम प्रेमको उसी हद तक सत्य मानते हैं जिस हद तक वह दुःखके बोझको ढो सकता है। अतएव, दुःख तो है ही, किन्तु उसके ऊपर आनन्द है, इसीलिए वह है। ऐसा न होता तो कुछ भी नहीं होता,—युद्ध-विग्रह और मारपीट भी नहीं। हमलोग जब केवल दुःखको ही स्वीकार करते हैं तब आनन्दको छोड़ देते हैं, किन्तु आनन्दको स्वीकार करनेसे दुःखको छोड़ देना नहीं होता। इसीलिए हमलोग जब यह कहते हैं कि 'इस गुत्थमगुत्थी और मार-पीटके अनन्तर जो बात रह जाती है वही सृष्टि है', तो वह बात अवच्छिन्न होती है, अंग्रेजीमें जिसे ऐब्स्ट्रैक्शन कहते हैं। और, आनन्दसे ही सब-कुछ हो रहा है और टिक रहा है, यही हुआ पूर्ण सत्य।

'अच्छा आप ही का कहना माने लेते हैं, मगर यह तो तत्त्व-ज्ञानकी बात हुई। दुनियादारीकी दृष्टिसे इसका क्या मूल्य हो सकता है ?'

यह जवाबदेही कविकी नहीं, और तो और, वैज्ञानिककी भी नहीं। जैसा समय पड़ा है उसके देखे, संसारमें कवि-जैसे निहायत निकम्मे लोगोंके लिए भी हिसाब-किताबसे बचकर चलनेकी गुञ्जाइश नहीं। हमारे यहाँ अलङ्कार-शास्त्रोंमें रसको सदासे अकारण अनिर्वचनीय कहा गया है, अतएव, जो रसका कारोबार करते हैं उन्हें हमारे देशमें प्रयोजनके बाजारका महसूल नहीं देना पड़ता। पर, मैंने सुना है, पाश्चात्य देशके कोई-कोई नामी विद्वान् रसको काव्यका चरम पदार्थ माननेको राजी नहीं। रसके नीचे तलछट कुछ रहती है या नहीं, उसे तराजूपर तौलकर वे काव्यका मूल्य निर्धारण करना चाहते

हैं। लिहाजा, किसी भी बातमें अनिर्वचनीयताकी दुहाई दी जाय तो आजकल हमारे देशमें भी लोग पुरान-पन्थी और ओरिएण्टल कहकर निन्दा कर सकते हैं। वह निन्दा असह्य तो नहीं है, किन्तु फिर भी काम करनेवालोंको कमसे कम जितना भी खुश किया जा सके, करना अच्छा है। यद्यपि मैं केवल कवि हूँ, फिर भी इस सम्बन्धमें मेरी बुद्धिमें जो आता है उसे मैं जरा पहलेसे ही अपनी ओरसे कह देना चाहता हूँ।

जगत्‌में 'सत्' 'चित्' और 'आनन्द' का जो प्रकाश है उसे हम ज्ञानकी लेबोरेटरीमें (प्रयोगशालामें) विश्लिष्ट करके देख सकते हैं, किन्तु वह विच्छिन्न कदापि नहीं है। काष्ठ-वस्तु वृक्ष नहीं है। रस आहरण करनेकी और प्राण धारण करनेकी उसकी जो शक्ति है वह भी वृक्ष नहीं है। वस्तु और शक्ति दोनोंको एक समग्रतामें आवृत करके जो एक अखण्ड प्रकाश है वही वृक्ष है, वह एक ही कालमें वस्तुमय शक्तिमय और सौन्दर्यमय है। वृक्ष जो आनन्द देता है वह इसी कारण। इसीलिए वृक्ष विश्व-जगत्‌का ऐश्वर्य है। वृक्षमें छुट्टीके साथ कार्यका और कार्यके साथ खेलका कहीं विच्छेद नहीं है। यही कारण है कि पेड़-पौधोंके बीच चित्तको इतना विश्राम मिलता है, उसमें वह अवकाशका सत्य-रूप देख सकता है। छुट्टी या अवकाशका यह रूप काम-काजकी उलटी पीठ नहीं है। सच पूछिये तो, वह कार्यका ही पूर्ण रूप है। वह रूप कार्यका विरुद्ध-रूप नहीं है। वस्तुतः वह कार्यका ही सम्पूर्ण-रूप है। कार्यका यह सम्पूर्ण-रूप ही है आनन्दरूप, सौन्दर्यरूप। यह कार्य जरूर है, किन्तु है 'लीला' ही; क्योंकि उसमें क्रियाशीलता और विश्राम दोनों साथ-साथ हैं।

सृष्टिकी समग्रताका प्रवाह मनुष्योंके बीच आकर टूट-फूट गया है। इसका प्रधान कारण यह है कि मनुष्यके एक निजी इच्छा होती है और वह संसारकी लीलाके तालपर कदम रख-रखकर नहीं चलती। विश्वके तालको मनुष्य आज तक पूरी तरह अपने ढंगपर नहीं ला सका है। बात-बातमें ताल-भङ्ग होता है। इसीलिए वह अपनी सृष्टिके टुकड़े-टुकड़े करके सँकरे दायरेमें किसी प्रकार उसे तालमें लाना चाहता है। किन्तु उससे पूरे संगीतका रस भङ्ग हो जाता है, और उन टुकड़ोंमें भी ताल कायम नहीं रहता। इसीसे मनुष्यके लगभग सभी कामोंमें द्वन्द्व-संघर्ष ही विशेष करके सामने आता है।

मिसालके तौरपर बच्चोंकी शिक्षाको लीजिये। मानवके लिए इससे बढ़के दारुण दुःख और कुछ भी नहीं। चिड़िया उड़ना सीखती है, मा-बापके गीत सुनकर गानेका अभ्यास करती है, यह उसकी जीव-लीलाका ही एक अङ्ग है। यह विद्याके साथ प्राण और मनकी प्राण-लेवा लड़ाई नहीं है। उसकी शिक्षा शुरूसे अखीर तक छुट्टीके दिनकी शिक्षा है, अर्थात् खेलके वेशमें काम है। जरा सोचिये तो सही, गुरुजी और पाठशाला क्या चीज थी! मनुष्यके घर जन्म लेना मानो एक ऐसा अपराध है कि जिसकी सजा लम्बे बीस साल तक भोगनी ही पड़ेगी! इस सम्बन्धमें और ज्यादा तर्क न करके मैं कवित्वके बलपर ही कहूँगा कि यह बहुत बड़ी गलती है। क्योंकि सृष्टिकर्ताके दरबारमें विश्व-कर्माका दल-बल संसार-भरमें यही गीत गा रहा है :—

'हमारे खेल काममें भेद नहीं कुछ
सुन लो रे सब जगवासी!'

कभी नीतिज्ञोंने कहा था, 'लालने वहवो दोषास्ताड़ने वहवो गुणाः।' यह बात प्रसिद्ध थी कि 'बेत बचाना लड़कोंका जीवन चौपट करना है।' किन्तु आज देख रहा हूँ कि शिक्षामें क्रमशः विश्वका आनन्द-स्वर मिलता जा रहा है, वहाँ बाँसकी जगह क्रमशः बाँसुरी दखल कर रही है।

एक दृष्टान्त और देता हूँ। जब मैं विलायतसे जहाजपर लौट रहा था तो दो मिशनरियोंने मेरा पीछा पकड़ा। उनके मुँहसे निकली-हुई भारतकी निन्दासे सामुद्रिक हवा तक दूषित हो गई। किन्तु, वे निःस्वार्थ होकर हमारे देशकी कितनी भलाई कर रहे हैं, इसकी एक लम्बी सूची मेरे आगे पेश करते थे। सूची जाली नहीं थी और आँकड़े भी गलत नहीं थे। हमारी भलाई वे सचमुच ही करते थे, किन्तु उसके समान निष्ठुर अन्याय हमलोगोंके प्रति और कुछ हो ही नहीं सकता था। उससे तो हमारे मुहल्लेमें गोरखा-पलटन भेज देना अच्छा था। मेरा कहना है कि कर्तव्य-नीति जहाँ कर्तव्य तक ही सीमित है, अर्थात् जहाँ वह 'ऐब्स्ट्रैक्शन' है, वहाँ सजीव प्राणियोंपर उसका प्रयोग ही एक अपराध है। इसीलिए हमारे शास्त्र कहते हैं, 'श्रद्धया देयं।' क्योंकि दानके साथ श्रद्धा और प्रेमका संयोग होनेपर ही दान सुन्दर और समग्र होता है।

किन्तु हमारा अभ्यास ऐसा गन्दा हो गया है कि हमलोग निर्लज्जोंकी तरह कह सकते हैं कि 'कर्तव्यके लिए सरस न होनेपर भी काम चल सकता है, बल्कि सरस न होनेसे और भी अच्छा चल सकता है।' बस, सिर्फ लड़ाई लड़ाई और लड़ाई ! हमारी बड़ाई करनी चाहिए कि 'हम ऐसे बहादुर हैं कि आनन्दकी उपेक्षा कर सकते हैं !' हमें चन्दन लगानेमें शर्म मालूम होती है, इसीसे सरसोंका लेप लगाकर हम उछल-कूद मचाते हैं। मुझे इस 'लेप' के लिए ही लज्जा है।

असलमें, मनुष्यकी मूल भूल ही यहीं है कि रुपयेमें पन्द्रह-आना आदमी अपनेको प्रकट ही नहीं कर पाते। और, आनन्द है अपने पूर्ण प्रकाशमें ही। गुणी जहाँ गुणी है वहाँ उसका कार्य कितना ही कठिन क्यों न हो, उसका आनन्द वहीं है। मा जहाँ मा है, वहाँ उसकी झंझटें कितनी ही क्यों न हों, वहीं उसका आनन्द है। क्योंकि, मैं पहले ही कह आया हूँ, वास्तविक आनन्द ही समस्त दुःखोंको, शिवके गरल-पानकी तरह, सहजमें आत्मसात् कर सकता है। इसीलिए कार्लाइलने प्रतिभाको उलटी तरफसे दिखाकर कहा है, 'असीम दुःख स्वीकार करनेकी शक्ति ही प्रतिभा है।'

किन्तु, मनुष्य जो भी कुछ काम करता है उसका अधिकांश ही अपनेको प्रकाशित करनेके लिए ही करता हो सो बात नहीं। वह या तो अपने प्रभुको या किसी प्रभुत्वशाली प्रबल पक्षको, या किसी बँधी-बँधाई कार्यप्रणालीको अपने पेटके लिए या पीठ बचानेके लिए प्रकट करता है। पंद्रह-आने लोगोंका काम ही 'पराया काम' होता है। आदमी जबरदस्ती अपनेको 'और-कोई' बनाने या 'और-कुछ' के समान करनेको बाध्य हो गया है। चीनी स्त्रियोंके जूते उनके पाँवों-जैसे नहीं होते, उनके पाँव ही उनके जूतों-जैसे होते हैं। इससे बेचारे पाँवोंको ही कष्ट उठाना और कुत्सित होना पड़ता है। किन्तु इस तरह कुत्सित होनेमें भी एक बड़ी सुविधा है, वह यह कि सबका एकसा कुत्सित होना सहज है। विधाताने सबको समान नहीं बनाया ; किन्तु नीतितत्त्वज्ञ यदि सबको समान करना चाहें, तो लड़ाईके सिवा, काय-क्लेश साधने और कुत्सित होनेके सिवा और-कोई चारा ही नहीं रह जाता।

प्रत्येक मनुष्यको राजाकी, समाजकी, परिवारकी या मालिककी गुलामी

करनी पड़ रही है। कैसी-तो गड़बड़ीसे बरबस ऐसा हो गया है। यही कारण है कि लीलाकी बातको हम दबा देना चाहते हैं। हम छाती फुलाकर यह कहा करते हैं कि 'जीन-लगामसे लैस होकर रास्तेपर दौड़ते-दौड़ते मुँहके बल ठोकर खाकर मर जानेमें ही मनुष्यका गौरव है।' यह और-कुछ नहीं, दास-जाति द्वारा दासताकी बड़ाई है। दासत्वका मंत्र हमारे कानोंमें ऐसे ढंगसे सुनाया जाता है जिससे हमारी आत्मा आत्म-गौरवसे कहीं सचेतन न हो उठे। किन्तु नहीं, हम गाड़ीके घोड़ेकी तरह लगाम लगाये ही मरनेको पैदा नहीं हुए हैं। हम राजाकी तरह ही जीयेंगे और राजाकी तरह ही मरेंगे।

हमारी सबसे बड़ी प्रार्थना है, 'आविरावीर्म एधि।' 'हे आवि, तुम मुझमें प्रकाशित होओ। तुम परिपूर्ण हो, तुम आनन्द हो। तुम्हारा रूप ही आनन्दरूप है। वह आनन्द-रूप वृक्षकी चिरी-हुई लकड़ी नहीं, वह वृक्ष है। उसमें 'होना' और 'करना' एक ही है।

मेरी बातके उत्तरमें यह कहा जा सकता है कि मनुष्यमें आनन्द-रूप पहले तो एक बार तोड़-फोड़मेंसे और फिर अखण्ड-परिपूर्णतामेंसे प्रकट हो सकेगा। जब तक ऐसा नहीं होता तब तक संघर्षके इस मन्त्रका जप दिन-रात करना ही पड़ेगा। तब तक मुँहमें लगाम लगाये ठोकर खाकर मुँहके बल गिरकर मरना ही पड़ेगा। तब तक शिक्षालय, कार्यालय, न्यायालय, हाट-बाजार सर्वत्र ही यह नरमेध-यज्ञ चलता रहेगा। और वलिके उन बकरोंके कानके पास जोर-जोरसे ढोल-ढाक बजाकर उनकी बुद्धिको घपलेमें डाल रखना ही ठीक है। यह बताना ही अच्छा है कि 'यह यूपकाष्ठ ही देवता है, यह खाँड़ेकी चोट ही आशीर्वाद है, और जल्लाद ही हमारा त्राणकर्ता है।'

सो होने दो, वलिदानके बाजे दफ्तर और अदालतमें बजा करें, कैदियोंकी जंजीरोंकी झङ्कारके साथ ताल मिलाकर बजते रहें। मरें सब पसीनेसे लथपथ होकर, शुष्कतालु होकर, लगाम चबाकर, रास्तेकी धूल फाँककर। किन्तु कविकी वीणामें बराबर यही एक सुर बजता रहेगा, 'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।' कविके छन्दोंमें इस मन्त्रका उच्चारण कभी शेष न होगा : Truth is beauty, beauty truth (सत्य ही सौन्दर्य है, सौन्दर्य ही सत्य)। इसपर दफ्तर-कचहरी-कालेज यदि लाठी लेकर

पीछेसे खदेड़ते भी आवें, तो भी सारे कोलाहलके ऊपर यह सुर बजता ही रहेगा, समुद्रके साथ, अरण्यके साथ, आकाशकी आलोक-वीणाके साथ सुर मिलाकर बजता ही रहेगा, "आनन्दं सम्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।" जो-कुछ भी है वह सब परिपूर्ण आनन्दकी ओर ही अग्रसर हो रहा है, हाँफते-हाँफते रास्तेमें ठोकर खाकर मुँहके बल गिरकर मरनेकी ओर नहीं।

बंगला-रचना : जेठ १९७२

साहित्य

उपनिषद्ने ब्रह्मके स्वरूपको तीन भागोंमें विभक्त किया है : 'सत्यम्', 'ज्ञानम्' और 'अनन्तम्'। चिरन्तनके इन तीन रूपोंके अनुसार मानव-आत्माके भी निश्चय ही तीन रूप हैं। तीनमेंसे एक है 'मैं हूँ', दूसरा है 'मैं जानता हूँ', और इनके साथ-साथ एक और बात है जिसकी कि हमें यहाँ चर्चा करनी है, वह यह है कि 'मैं व्यक्त करता हूँ।' अगर अंग्रेजीमें इसीको कहना हो तो कहेंगे, I am, I know, I express. मनुष्यकी यही तीन दिशाएँ हैं, और इन तीनोंको लेकर ही एक अखण्ड सत्य है। सत्यके यही तीन भाव हमें प्रतिक्षण विभिन्न कार्यों और प्रवर्तनोंके लिए प्रेरित करते हैं। हमें बना रहना है इसलिए अन्न चाहिए, वस्त्र चाहिए, निवास चाहिए और स्वास्थ्य चाहिए। इसीके लिए नाना प्रकारका संग्रह है, संरक्षण है और गठन-कार्य है। 'मैं हूँ' इस सत्यका यह भाव ही मनुष्यसे नाना कार्य कराता है। इसीके साथ ही 'मैं जानता हूँ' की प्रेरणा भी कुछ कम नहीं है। इस 'जानने'का बड़ा ही विराट् आयोजन है और वह आयोजन क्रमशः बढ़ता ही जाता है। इसका मूल्य मनुष्यके लिए बहुत ज्यादा है। मानव-सत्यकी और भी एक दिशा है 'मैं व्यक्त करता हूँ।' 'मैं हूँ' यह तो है ब्रह्मके सत्य-स्वरूपके अन्तर्गत, 'मैं जानता हूँ' यह है उसके ज्ञान-स्वरूपके अन्तर्गत, और 'मैं व्यक्त करता हूँ' यह है उसके अनन्त-स्वरूपके अन्तर्गत।

'मैं हूँ' इस सत्यकी रक्षा करना जिस प्रकार मनुष्यकी आत्मरक्षामें शामिल है उसी प्रकार 'मैं जानता हूँ' की रक्षा करना भी आत्म-रक्षा है ; कारण, मनुष्यका स्वरूप ज्ञान-स्वरूप है। इसलिए, मनुष्यको केवल इतना ही जानना चाहिए कि कैसे और क्या खाकर हमारी पुष्टि हो सकती है सो बात नहीं। उसे अपने ज्ञान-स्वरूपकी गरजसे रात-दिन एक करके यह भी जानना चाहिए कि मंगल-ग्रहमें जो धब्बे दिखाई देते हैं वे क्या हैं। इस बातकी खोजमें सम्भव है कि उसका रोजमर्राका जीवन झंझटोंमें फँस जाय, फिर भी उसे यह जानना चाहिए। अतएव, मनुष्यके लिए, अपनी ज्ञानमय प्रकृतिके साथ संगति रखकर ज्ञान-विज्ञानको जानना ही यथार्थ जानना है, अपनी प्राणमय प्रकृतिके साथ एकान्त-रूपसे संयुक्त करके जानना वास्तविक जानना नहीं है।

'मैं हूँ' और 'मुझे टिका रहना है', यह ज्ञान जब अपनी सङ्कीर्ण परिधिमें रहता है तब आत्मरक्षा और वंशरक्षा केवल हमारे 'अहं'को ही जकड़े रहती है। किन्तु, जिस हद तक मनुष्य यह कहता है कि 'औरोंकी स्थितिसे ही मेरी स्थिति है' उसी हद तक अपने जीवनमें वह अनन्तका परिचय देता है, और उसी हद तक 'मैं हूँ' और 'अन्य सब हैं' इस स्थितिके बीचकी दीवार दूर हो जाती है। अन्यके साथ अपने एकत्व-बोधका जो माहात्म्य प्रकट होता है वही आत्माका ऐश्वर्य है। उसी मिलनकी प्रेरणासे मनुष्य तरह-तरहसे अपनेको व्यक्त करता है। जहाँ मनुष्य अकेला है वहाँ उसका प्रकाश नहीं है। अपने बने रहनेके असीमता-बोधको, अर्थात् अन्योंकी स्थितिमें अपनी स्थितिकी अनुभूतिको मनुष्य अपने तुच्छ दैनिक व्यवहारमें प्रच्छन्न नहीं रख सकता। ऐसी दशामें उस महाजीवनकी प्रयोजन-सिद्धिके लिए वह नाना प्रकारकी सेवा और त्यागमें प्रवृत्त होता है ; और, उस महाजीवनके आनन्दको आवेगको वह नानाप्रकारके साहित्यमें भास्कर्यमें स्थापत्यमें चित्रोंमें गीतोंमें व्यक्त करता रहता है।

पहले ही कह चुका हूँ, 'केवलमात्र अपनेको ही टिकाये रखनेके व्यापारमें भी ज्ञानका प्रयोजन है। किन्तु, उस ज्ञानमें दीप्ति नहीं होती। ज्ञानके राज्यमें जहाँ असीमकी प्रेरणा होती है वहाँ मनुष्यमें शिक्षाका कितना उद्योग, कितनी पाठशालाएँ, कितने विश्वविद्यालय, कितने वीक्षण, कितने परीक्षण,

कितने आविष्कार और कितनी उद्भावनाएँ होती हैं, उसका कोई ठीक है ! वहाँ मनुष्यका ज्ञान सर्वजनीन और सर्वकालीन होकर मानवात्माके सर्वत्र प्रवेशाधिकारकी घोषणा करता है। इस अधिकारका विचित्र आयोजन दर्शन और विज्ञानमें विस्तृत होता रहता है, किन्तु उसका विशुद्ध आनन्द-रस नाना रचनाओंमें, साहित्यमें और कलामें प्रस्फुटित होता है।

हम देखते हैं कि पशुओंकी तरह मनुष्यमें भी जैसे अपने टिके-रहनेकी इच्छा प्रवल है, पशुओंके समान मनुष्यमें भी जैसे प्रयोजनीय ज्ञानका कौतूहल सदा सचेष्ट है, ठीक उसी तरह मनुष्यमें एक बात और है जो पशुओंमें नहीं पाई जाती, मनुष्यको वह मात्र जीवित रहनेकी क्षुद्र सीमामें कैद नहीं रखती, उसके बाहर खींच ले जाती है। यहीं मनुष्यका प्रकाशतत्त्व है।

यह प्रकाश एक ऐश्वर्य है। जहाँ मनुष्य दीन है वहाँ प्रकाश नहीं है, वहाँ वह जो-कुछ लाता है वही खाता है। जिसे मैं स्वयं ही सम्पूर्ण शोषण करके निःशेष नहीं कर सकता उसीमेंसे तो प्रकाश है। लोहा गरम होते-होते जब तक दीप्त ताप तक नहीं पहुँच जाता तब तक उसमें प्रकाश नहीं है। तापका ऐश्वर्य है प्रकाश। मनुष्यके जो-सब भाव अपनी ही आवश्यकताओंमें भुक्त नहीं हो जाते, जिसके प्राचुर्यको वह अपने-आपमें ही समेटकर नहीं रख सकता, जो स्वभावतः ही दीप्यमान हैं, उसीसे मनुष्यके प्रकाशका उत्सव होता है। रुपयामें वह ऐश्वर्य कहाँ है ? जहाँ वह मेरी एकान्त आवश्यकताओंको पार कर जाता है, जहाँ वह मेरी जेबमें ही छिपा नहीं रहता, जहाँ उसकी समस्त रश्मियाँ मेरे ही कृष्णवर्ण 'अहं' के द्वारा सम्पूर्ण-रूपसे शोषित नहीं हो जातीं, वहीं उसमें अशेषका आविर्भाव होता है ; और वह अशेष ही नाना रूपमें प्रकाशमान है। उस प्रकाशकी प्रकृति ही यह है कि हम सब उसके लिए कह सकते हैं, 'यह तो मेरा ही है।' वह ज्यों ही अशेषको अङ्गीकार कर लेता है उसी क्षण वह व्यक्ति-विशेषकी भोग्यताके मलिन सम्बन्धसे मुक्त हो जाता है। अशेषके प्रसादसे वंचित उस विशेष-भोग्य रुपयेकी बर्बरतासे वसुधा आज पीड़ित हो रही है। दैन्यसे बढ़कर और कोई भार नहीं। रुपया जब दरिद्रताका वाहन हो जाता है तब उसके पहियोंके नीचे न-जाने कितने मनुष्य पिसकर धूल हो जाते हैं। इसी दैन्यका नाम प्रताप है, यह प्रकाश नहीं है,

यह केवलमात्र दाह है, और यह जिसका है केवलमात्र उसीका है, इसलिए इसका अनुभव किया जा सकता है किन्तु स्वीकार नहीं किया जा सकता। निखिलके इस स्वीकार-करनेको ही प्रकाश कहते हैं।

प्रतापके इस रक्तपंकिल अपवित्र स्पर्शको प्रकृतिअपनीश्यामल अमृतधारा से पोंछ-पोंछ देती है। पुष्प 'सृष्टिके अन्तःपुर' से सौन्दर्यकी डाली सजाकर लाते हैं और लज्जासे प्रतापके कलुषित पदचिह्नोंको बार-बार ढक-ढक जाते हैं। वे जताते रहते हैं कि 'हम छोटे हैं, हम कोमल हैं, किन्तु हम ही चिरकालिक हैं, क्योंकि, सभीने हमें वरण किया है। और वह जो उद्यत-मुष्टि विभीषिका है, जो पत्थरपर पत्थर चिनकर अपने किलेको अभ्र-भेदी बनाता चला जा रहा है वह कुछ भी नहीं, क्योंकि स्वयं अपने सिवा और-कोई उसे स्वीकार नहीं कर रहा है, माधवी-वितानकी सुन्दरी छाया भी उससे कहीं अधिक सत्य है।'

ताजमहलको ले लो,—ऐसा सुन्दर ताजमहल, इसका कारण है शाहजहाँ के हृदयका प्रेम। उनकी विरह-वेदनाके आनन्दने अनन्तका स्पर्श किया था। अपने सिंहासनको शाहजहाँने चाहे जिस स्तरपर रखा हो, किन्तु ताजमहलको वे अपनेसे मुक्त कर गये हैं। उसमें अपना-पराया कुछ भी नहीं, वह अनन्तकी वेदी है। शाहजहाँके प्रतापने जब दस्युवृत्ति की थी तब उसकी लूटका माल कितना ही ज्यादा क्यों न हो, उससे उसकी अपनी थैलीका भी पेट नहीं भरा, इसीसे वह भूखके अन्धकारमें विलीन हो गया। और जहाँ उसके चित्तमें परिपूर्णताकी उपलब्धिका उद्भव हुआ वहाँ उस दैववाणीको वह अपने भण्डारमें अपने राज्य और साम्राज्यके विपुल विस्तारमें कहीं भी बाँधकर न रख सका। फिर तो उसे सर्वजन और सर्वकालके हाथ समर्पण करनेके सिवा और कोई चारा ही न रहा। इसीको कहते हैं प्रकाश। हमारे यहाँ जितने भी मङ्गल-अनुष्ठान होते हैं उन सबमें ग्रहण करनेका मन्त्र है, 'ॐ', अर्थात् 'हाँ'। ताजमहल वही नित्य-उच्चारित मंत्र है 'ॐ',— निखिलका सनातन मूर्तिमान् ग्रहणमन्त्र। शाहजहाँसे सिंहासनसे वह मन्त्र नहीं पढ़ा गया। नतीजा यह हुआ कि किसी समय उसकी चाहे कितनी ही शक्ति क्यों न रही हो, वह स्वयं 'नहीं' होकर न-जाने कहाँ लुप्त हो गया। इसी तरह न-जाने कितने बड़े-बड़े नामधारी 'नहीं' के दल अपना गर्वित दर्प लिये-हुए विलुप्तिकी ओर चले जा

रहे हैं, उनकी तोपोंके गर्जन और बन्दियोंकी साँकलोंकी झनकारसे कान बहरे हो गये, किन्तु वे सब माया हैं, अपनी ही मृत्युका नैवेद्य लेकर वे कालरात्रि-पारावारके कालीघाटकी ओर चलते चले जा रहे हैं। किन्तु, उस शाहजहाँकी कन्या जहाँनाराका एक रोदनका गीत? उसपर हमने कहा है, 'ॐ'।

किन्तु, क्या हम दान करना चाहें तो दान कर सकते हैं? अगर हम कहें कि 'तुभ्यमहं सम्प्रददे', तो क्या इतने ही से वर आकर हाथ फैला देंगे? नित्य-काल और निखिल-विश्व यही कहता है, 'यदेतत् हृदयं मम', उसके साथ तुम्हारे सम्प्रदानका मेल होना चाहिए। तुम्हारा 'अनन्तम्' जो भी देगा उसे ही स्वीकार कर लूंगा। मेघदूतको जो उसने स्वीकार किया है वह उज्जयिनीकी कोई अपनी सम्पत्ति नहीं, विक्रमादित्यके सिपाही-सैनिक पहरा देकर उसे उनके अन्तःपुरकी हंसपादिकाओंके इलाकेमें रोककर नहीं रख सके थे। विद्वान् आपसमें इस बातपर भले ही जूझते रहें कि वह ईसाके पचास साल पहले या बादकी रचना है, किन्तु, उसके अङ्ग-अङ्गमें सभी तिथियोंकी मुहर पड़ी है। आलोचक विवाद करते रहें कि उसकी रचना शिप्रानदीके तटपर हुई थी या गङ्गा-तटपर। उसके मन्दाक्रान्ता-छन्दोंमें पूर्व-वाहिनी पश्चिम-वाहिनी सभी नदियोंका कलकल रव मुखरित है। दूसरी ओर ऐसी-ऐसी रचनाएँ भरी पड़ी हैं जिनके अनुप्रासकी छटाकी चिनगारियोंसे सभाके हजारों लोग विमुग्ध हो गये हैं। उनकी विशुद्ध स्वादेशिकतासे उत्तेजित चाहे हम कितने ही क्यों न हों, किन्तु उनका देश और काल सीमित है। सभी देश और सभी कालके लिए न होनेके कारण उनकी दशा उस कुलीनकी कुमारी कन्याके समान है जो अपने व्यर्थ कुल-गौरवको कदली-वृक्षको समर्पित कर निःसन्तान ही इहलीला समाप्त करती है।

उपनिषद्ने जहाँ ब्रह्मके स्वरूपकी बात कही है 'अनन्तम्', वहाँ उनके प्रकाशकी बात क्या कही है? कहा है, 'आनन्दरूपममृतं यद्विभाति।' यही हमारी मूल बात है। सारा संसार ही यदि कैदखाना होता तो सब सिपाही मिलकर राजदण्डके धक्के दे-देकर भी हमें वहाँसे नहीं हटा सकते थे। तब हम हड़ताल करके बैठ जाते, कहते, 'हमारा खाना-पीना बन्द।' किन्तु मैं तो स्पष्ट देख रहा हूँ, चारों तरफ तकीद ही ताकीद हो सो बात नहीं, और भी कुछ है।

मेरा हृदय बार-बार मुग्ध होता रहता है। इसकी जरूरत क्या थी ? चटकलोंमें जो मजदूर कड़ी मेहनत करते हैं उन्हें मजदूरी मिलती है, किन्तु उनके हृदयके लिए किसीके सिर-दर्द नहीं होता। मिलें मजेमें चलती रहती हैं। मिलके मालिक एकके चार बनाते हैं, वे उन मजदूरोंके मनोहरणके लिए तो एक पैसेका फिजूलखर्च नहीं करते। किन्तु संसारमें इस मनोहरणके आयोजनका कोई अन्त नहीं। अर्थात् हम देखते हैं कि यह महज वोपदेवके व्याकरणके रूखे सूत्रोंका ही जाल नहीं है, यह तो काव्य है ! मतलब यह कि व्याकरण तो दासीके समान पीछे है और रसकी लक्ष्मी सामने खड़ी है। तो क्या इसके प्रकाशमें दण्डीका दण्ड ही है, या कविका आनन्द है ?

यह जो सूर्योदय और सूर्यास्त है, यह जो आकाशसे धरती तक सर्वत्र सौन्दर्यका प्लावन है, इसमें तो किसी जबरदस्त पहरेदारके तगमेका चिह्न देखनेमें नहीं आता। अवश्य ही भूखकी भी एक ताकीद होती है, किन्तु वह ताकीद तो साफ-साफ "नहीं" की मुहर-लगी चीज है। "हाँ" भी है भूख मिटानेके उस फलमें रसना जिसे सरस आग्रहके साथ आत्मीय मानकर अभ्यर्थना करके ग्रहण करती है। तो फिर किसे सामने देखूँ और किसे पीछे ? व्याकरणको या काव्यको ? भोजनशालाको या भोजके निमन्त्रणको ? गृहकर्ताका उद्देश्य कहाँ प्रकट होता है,– जहाँ हम निमन्त्रणपत्र हाथमें लिये दौड़े गये हैं वहाँ, या जहाँ हमारे लिए आसन डाला गया है वहाँ ? सृष्टि और सर्जन एक ही बात है। सर्जनकर्ताने परिपूर्ण रूपसे अपनेको विसर्जन किया है, बाँट दिया है, इसीसे हमारा जी जुड़ा गया है ; तभी हमारा हृदय कहता है, 'आः, जान बची !'

'शुक्लपक्षकी संध्याका आकाश चाँदनीसे भर उठा है'– इस आश्चर्यजनक समाचारको तब तक तो हम भूले रह सकते हैं जब तक बैठकमें वादविवादमें मशगूल रहें, किन्तु रातके दस बजे जब उस खुले मैदानके सामनेसे घर लौटते हैं तब हमारी गहरी चिन्ताओंको चीरकर जो प्रकाश हमारे मनके आँगनमें सामने आकर खड़ा हो जाता है, उसे देखकर हम क्या कहते हैं ? कहते हैं, 'आनन्दरूपममृतं यद्विभाति।' यह जो 'यत्' है, 'आनन्दरूप' में जिसका प्रकाश है, वह कौन-सी वस्तु है ? क्या वह शक्ति-वस्तु है ?

रसोईघरमें शक्तिका प्रकाश छिपा है। किन्तु, भोजनकी थालीमें वह क्या शक्तिका प्रकाश है? मुगल-सम्राट्ने अपनी शक्तिका प्रकाश करना चाहा था। किन्तु उस विपुल काठ-फूसके प्रकाशको भी क्या प्रकाश कहते हैं? उसकी वह मूर्ति कहाँ गई? औरंगजेबके अनेक आधुनिक अवतारोंने भी रक्तकी रेखाओंमें शक्तिके प्रकाशका अति-विपुल आयोजन किया है। किन्तु, जो 'आविः' हैं, जो प्रकाश-स्वरूप हैं, आनन्द-रूपमें जो व्यक्त हो रहे हैं, उन्होंने अभीसे उन रक्त-रेखाओंपर रबड़ रगड़ना शुरू कर दिया है। और, उनकी आलोक-रश्मिकी बुहारी ऐसे लोगोंके आयोजनोंके कूड़े-कचरेपर पड़ने लगी है। क्योंकि, उनका आनन्द जो प्रकाश है, और आनन्द ही उनका प्रकाश है।

अपने इस प्रकाशको ढककर उन्होंने यदि शक्तिको ही सामने रक्खा होता, तो उनको माननेके समान अपमान मेरे लिए और कुछ भी नहीं हो सकता।

जब मैं जापान जा रहा था तो मेरा जहाज तूफानमें पड़ गया था। मैं डेकपर बैठा था। मुझे मार डालनेके लिए वायुका एक हलका निश्वास ही काफी था, किन्तु श्याम-सागरके वक्षस्थलपर पागल-तूफानके नाचका जो आयोजन हो रहा था वह तो मेरे भीतरके पागल-मनको मत्त कर देनेके लिए ही था। उस समारोहके द्वारा ही एक पागलसे दूसरे पागलका रहस्यालाप सम्भव हो सका। मान लो, मैं कहीं डूबकर मर गया होता, तो क्या वह उससे किसी कदर बड़ी बात होती? रुद्रवीणा बजानेवाले उस्तादने अपने इस रुद्रवीणाके शागिर्दको फेनिल तरङ्ग-ताण्डवके बीच चक्र-वायुके द्रुततालकी दो-एक तान सुना दी। और वहीं मैं कह सका, 'तुम मेरे अपने हो।'

अमृतके दो अर्थ हैं: एक 'जो मरता नहीं', और दूसरा 'जो परम रस है'। आनन्दने जो रूप लिया है वह हुआ 'रस'। अमृत भी यदि वही रस हो, तो फिर रसकी बात पुनरुक्ति मात्र होगी। लिहाजा, यहाँ मैं कहूँगा अमृतके मानी हैं 'जो मृत्युहीन है'; अर्थात्, आनन्दने जहाँ रूप ग्रहण किया है वहीं उस प्रकाशने मृत्युको अतिक्रम किया है। जिसे देखो, वही कालका डर दिखाता है। किन्तु कालके राज्यमें रहते-हुए भी जिसका उसके साथ असहयोग है वह कहाँ है?

अब हम अपनी बातपर आयें। काव्य जो छन्दोंमें पिरोया जाता है, रूपदक्ष जो रूप-रचना करता है वह यदि आनन्दका ही प्रकाश हो, तो वह मृत्युञ्जयी है। यह 'रूपदक्ष' शब्द मुझे नया मिला है, एक प्राचीन शिला-लिपिमें, 'आर्टिस्ट'-शब्दका यह एक उत्कृष्ट प्रतिशब्द है।

काव्य या चित्रकी तो समप्तिमें समाप्ति नहीं होती। मैंने 'मेघदूत' सुन लिया, चित्र देखकर घर लौट आया, किन्तु मनमें किसी तरहका अवसाद तो नहीं ले आया। गान जब 'सम'पर आकर थम जाता है तो गहरे आनन्दसे हम सिर हिला देते हैं। 'सम'के मानी तो रुक जाना है, उसमें आनन्द क्यों है? इसलिए कि आनन्दरूप रोके नहीं रुकता। किन्तु रुपये जब खतम हो जाते हैं तब तो उसके 'सम'पर हम सिर हिलाकर 'अहा' नहीं कह सकते।

गान रुक गया,– फिर भी वह शून्यकी तरह, अन्धकारकी तरह क्यों नहीं रुका? इसका कारण है, गीतमें एक ऐसा तत्त्व है जो सारे विश्वकी आत्मामें है, इसीलिए, वह उस 'ॐ' का आश्रय लेकर रह जाता है; उसके लिए कहीं कोई गड्ढा नहीं है। इस गीतको मैं चाहे न सुनूँ, प्रत्यक्षतः कोई उसे ग्रहण करे या न करे, इससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। काव्य और चित्रमें न-जाने ऐसी कितनी अमूल्य निधियाँ खो गई हैं; किन्तु, यह एक निरी बाहरी घटना है, एक आकस्मिक व्यापार। मूल बात जो है वह यह है कि उन रचनाओंने आनन्दके ऐश्वर्यको प्रकाशित किया है, प्रयोजनकी दीनताको नहीं। यदि उस दीनताका स्वरूप देखना है, तो जरा जूटमिलोंमें चले जाओ, जहाँ गरीब किसानोंके खूनको पहियोंमें पेरकर चौगुने मुनाफेमें परिणत किया जा रहा है। गङ्गा-तटपर वटवृक्षकी छायाके आश्रयमें जिस पुराने खंडहर-मन्दिरको मिटाकर विराट मुँह बाये जो कारखाना अपनी ऊँची चिमनियोंसे धुआँ उगल रहा है वह कारखाना उस लुप्त खंडहर-मन्दिरसे भी मिथ्या है। क्योंकि आनन्द-लोकमें उसके लिए कोई स्थान नहीं।

वसन्तमें राशि-राशि कलियाँ झर जाती हैं; कोई भय नहीं, क्योंकि उनका क्षय नहीं। वसन्तकी डालीमें अमृतमन्त्र है। उसमें रूपका नैवेद्य भर-भर उठता है। सृष्टिके प्रथम युगमें जो भूकम्पके भैंसे अपने सींगोंकी

मारसे भूमिगर्भके तप्त पङ्कको बाहर उछाल रहे थे वे फिर लौटकर नहीं आये। रसातलके आवरणको फोड़कर जो अग्नि-नागिनी पृथ्वीके मेघाच्छन्न आकाशको डस लेना चाहती थी, पता नहीं, किस वंशीकी कौन-सी तान सुनकर वह शान्त हो गई। किन्तु, हरी घासके कोमल चुम्बनोंसे आकाशकी नीली आँखें हमेशा ठण्डी बनी रहती हैं। घास बार-बार आती है और हमेशा बनी रहती है। मेरे घरके दरवाजेके पास कुछ कँटीले पौधे हैं, जिनमें वसन्तके लाड़-प्यारसे फूल खिल उठते हैं। कण्टकारीके फूल। उनकी बैंगनी रंगकी कोमल छातीपर तपे सोनेके कुछ सुनहले छींटे हैं। आकाशकी ओर आँखें उठाये जिस सूरजका वह ध्यान करता है, मानो उसकी छातीमें वह ध्यान ही मधुर होकर चिपक गया है। इन फूलोंकी क्या ख्याति है? और, ये क्या झर-झरकर गिर नहीं जाते? किन्तु उससे नुकसान क्या है? संसारके अनेक बड़े-बड़े पहलवानोंसे ये निर्भय हैं। ये अपने मनके आनन्दके भीतर रहते हैं, ये अमृत हैं। जब ये प्रकट नहीं रहते तब भी ये रहते हैं।

महाकालके दरबारमें मृत्युके हथौड़ेसे पीट-पीटकर अमृतकी जाँच हुआ करती है। ईसाई पुराणमें ईसाके मृत्यु-संवादपर यही बात तो आई है। मृत्युकी चोट खाकर ही क्या उनकी अमरताकी शिखा उज्ज्वल होकर प्रकाशित नहीं हुई? किन्तु, एक बात याद रखनी चाहिए, हमारे-तुम्हारे गरदन हिला देनेकी सहमतिको ही 'अमृतका प्रकाश' नहीं कहते। जहाँ उसकी स्थिति है वहाँ हमारी दृष्टि नहीं भी जा सकती है। हमारी स्मृतिके परिमाणके अनुसार उसके अमृतत्वका परिमाण नहीं है। यदि वह पूर्णताके आविर्भावको अपनी छातीसे लगाये लिये आया है, तो समझना होगा कि क्षणमें ही उसने नित्यकी छवि दिखा दी है। हमारी धारणापर उसका आश्रय नहीं है।

हो सकता है कि ये सब बातें तत्त्वज्ञानके कोठेमें जा पड़ें। मुझ-जैसे अनाड़ी आदमीका विश्वविद्यालयमें तत्त्वज्ञानकी आलोचलनामें उतर पड़ना असङ्गत है। किन्तु, मैं अध्यापकके मञ्चपर खड़ा होकर ये बातें नहीं कह रहा हूँ। अपने जीवनकी अभिज्ञतासे भीतर-बाहरसे रसका जो परिचय मैंने पाया है उसीसे मैंने क्षण-क्षणमें अपने प्रश्नोंका उत्तर संग्रह किया है। और वही मैं यहाँ इकट्ठा कर रहा हूँ। हमारे यहाँ परमपुरुषकी एक संज्ञा है, उन्हें

'सच्चिदानन्द' कहा गया है। इस संज्ञामें आनन्द ही अन्तिम बात है, उसके बाद कोई बात ही नहीं। उस आनन्दमें ही जब प्रकाशका तत्त्व है, तो फिर इस प्रश्नके कोई मानी ही नहीं कि 'कलासे हमारा कोई हित-साधन होता है या नहीं।'

कलकत्ता-विश्वविद्यालय-व्याख्यानमाला
फाल्गुण १६८०

तथ्य और सत्य

साहित्य या कला-रचनामें मनुष्यकी जिस चेष्टाका प्रकाश है कोई-कोई उसके साथ मनुष्यकी खेलनेकी प्रवृत्तिको मिलाकर देखते हैं। उनका कहना है, 'खेल-कूदमें प्रयोजन साधनेकी बात नहीं है, उसका उद्देश्य केवल अवसर-विनोदन है ; साहित्य और ललितकलाका भी वही उद्देश्य है।' इस विषयमें मुझे कुछ कहना है।

मैं कह चुका हूँ कि हमारी सत्ताकी एक दिशा है प्राण-धारण, यानी बने रहना। इसीसे हममें कुछ स्वाभाविक वेग-आवेग होते हैं। उसी आवेगसे बच्चे बिस्तरपर पड़े-पड़े हाथ-पाँव हिलाया करते हैं, थोड़ा और बड़े हो जानेपर वे अकारण ही दौड़-धूप करने लगते हैं। इसी तरहसे निरर्थकताके बहाने प्रकृति हमें जीवन-यात्रामें देहके व्यवहारकी शिक्षा दिया करती है। छोटी बच्ची जिस मातृ-भावको लिये-हुए पैदा हुई है उसके परिचालनके लिए ही वह गुड्डा-गुड़ियोंका खेल खेलती है। जीवन-धारणके क्षेत्रमें जिगीषा-वृत्ति एक मुख्य अस्त्र है। इसीसे बच्चे प्रकृतिकी अनुप्रेरणासे प्रतियोगिताके खेलों द्वारा उस प्रवृत्तिपर धार चढ़ाते रहते हैं।

इस प्रकारके खेलोंमें हमारा एक विशेष आनन्द है। उसका कारण यह है कि प्रयोजन-साधनकी जिन प्रवृत्तियोंके साथ हमने जन्म लिया है उन प्रयोजनोंकी मौजूदा जिम्मेवारीसे बरी होकर हम उन्हें अपने खेलोंमें प्रकाशित

कर सकते हैं। यह फलासक्ति-हीन कर्म है। यहाँ कर्म ही चरम लक्ष्य है, खेलमें ही खेलकी परिसमाप्ति है। ऐसा होते-हुए भी मूलतः खेल और प्रयोजन साधनकी वृत्ति एक ही है। इसीलिए खेलोंमें जीवन-यात्राकी नकल आ जाती है। कुत्तोंकी जीवन-यात्रामें जिस लड़ाईकी जरूरत है, कुत्तोंके खेलोंमें हम उसीकी नकल देखते हैं। बिल्लियोंका खेल चूहोंका शिकार है। खेलका क्षेत्र जीवन-यात्रा-क्षेत्रका ही प्रतिरूप है।

दूसरी ओर, जिस प्रकाश-चेष्टाका मुख्य उद्देश्य अपने प्रयोजनके रूपको व्यक्त करना नहीं किन्तु विशुद्ध आनन्द-रूपको व्यक्त करना है, उस चेष्टाके साहित्यगत फलका नाम मैंने रस-साहित्य रखा है। जीवित रहनेकी हमारी जो पूँजी है उसके एक अतिरिक्त अंशको लेकर साहित्यमें हम जीवन-व्यापार की ही नकल किया करते हैं, यह कहनेके लिए मन तो राजी नहीं होता। कविताका विषय चाहे जो भी हो, यहाँ तक कि वह अतितुच्छ दैनिक व्यापार ही क्यों न हो, फिर भी उस विषयको शब्दचित्रमें नकल करके व्यक्त करना उसका उद्देश्य हरगिज नहीं हो सकता। विद्यापतिने लिखा है :—

"जब गोधूलि समय बेलि, धनि मन्दिर बाहर भेलि,
नव जलधरे बीजुरि-रेहा द्वन्द्व पसारि गेलि।"

गोधूलि-बेलामें पूजा समाप्त करके रूपसी मन्दिरसे अपने घरको लौटती है। हमारे यहाँ संसार-व्यापारमें यह घटना रोज ही घटती है। तो क्या यह कविता शब्दोंकी कारीगरी-द्वारा उसीकी पुनरावृत्ति-भर है? जो बात जीवन-व्यवहारमें घटित होती है, व्यवहारके दायित्वसे मुक्त होनेके आयाससे ही उसको कल्पना-द्वारा उपभोग करना ही इस कविताका लक्ष्य है? मैं तो इसे हर्गिज स्वीकार नहीं कर सकता। सच पूछिये तो 'वह सुन्दरी मन्दिरसे निकलकर अपने घर लौट रही है'—यह विषय कविताकी मूल-वस्तु नहीं है। इस विषयको उपलक्ष्य-मात्र मानकर छन्द वाक्य-विन्यास और उपमा-संयोगसे जो एक समग्र वस्तु बनती है वही वास्तवमें मूल-वस्तु है। वह मूल विषयसे परे है, वह अनिर्वचनीय है।

अंग्रेज कवि कीट्सने एक ग्रीक पूजापात्रपर कविता लिखी है। जिस शिल्पीने उसे बनाया था उसने तो महज एक आधारकी ही रचना नहीं की थी।

उस पात्रकी रचना सिर्फ इसलिए नहीं हुई थी कि उसके द्वारा मन्दिर तक अर्घ्य ले जाया जाय। संक्षेपमें मनुष्यके प्रयोजनको रूप देना ही उसका उद्देश्य नहीं था। प्रयोजनकी पूर्ति उसके द्वारा अवश्य हुई थी, किन्तु, मात्र उतने ही में वह निःशेष नहीं हो गया। वह उससे कहीं स्वतन्त्र, कहीं अधिक बड़ी वस्तु है। उस ग्रीक-शिल्पीने सुषमाको, पूर्णताके एक आदर्शको रूप दिया है, अपरूपको रूपमें व्यक्त किया है। उसने कोई संवाद नहीं दिया, बहिर्जगत्के किसी-कुछकी पुनरावृत्ति नहीं की। अन्तरके अकारण आनन्दको बाहर प्रतिष्ठित करके पूर्णता प्रदान करनेकी जो चेष्टा है उसे खेलके बजाय 'लीला' कहा जा सकता है। वह हमारी रूप-रचनाकी प्रवृत्ति है, प्रयोजन-साधनकी नहीं। उसमें मनुष्यकी दैनन्दिन आवश्यकताओंका सम्बन्ध रह भी सकता है। किन्तु वह अवान्तर है।

हमारी आत्मामें अखण्ड एकताका आदर्श है। हमलोग जो भी कुछ जानते हैं उसे किसी-न-किसी एकताके सूत्रसे जानते हैं। हमारी कोई भी जानकारी अपने-आपमें ही एकान्त-रूपसे स्वतन्त्र नहीं। अपनी प्राप्ति और जानकारीमें जहाँ भी हम अस्पष्टता पाते हैं वहाँ हम यही समझते हैं कि इस अस्पष्टताका कारण यह है कि हमने उसे और-सबसे मिलाकर नहीं पाया, नहीं जाना। हमारी आत्मामें ज्ञान और भावका यह जो 'एक' का बिहार है वह 'एक' जब लीलामय बनता है, जब वह सृष्टिके द्वारा आनन्द पाना चाहता है, तब वह 'एक'को बाहर सुपरिस्फुट कर देना चाहता है। और तब, विषयको उपलक्ष्य करके, उपादानको आश्रय बनाकर, एक 'अखण्ड एक' व्यक्त हो उठता है। काव्यमें चित्रमें गीतमें शिल्पमें ग्रीक-शिल्पीके पूजापात्रमें विचित्र रेखाओंके आवर्तनमें जब हम परिपूर्ण 'एक' को चरम-रूपमें देखते हैं तब हमारी अन्तरात्माके उस 'एक'से बाहरी संसारके 'एक'का मिलन होता है। जो अरसिक हैं वे उस 'चरम एक'को नहीं देख सकते, वे केवल उपादानकी दृष्टिसे, प्रयोजनकी दृष्टिसे ही उसका मूल्य आँकते हैं।

"शरद-चन्द पवन मन्द
विपिने बहल कुसुम-गन्ध
फुल्ल मल्लि मालती यूथि मत्त-मधुप-भोरनी।"

विषय भाव वाक्य और छन्दके निविड़ सम्मेलन द्वारा यदि इस कवितामें 'एक'का रूप पूर्ण होकर दिखाई दे, यदि उस 'एक'का अविर्भाव ही चरम-रूपसे हमारे चित्तपर अधिकार करे, यदि यह कविता खण्ड-खण्ड होकर उल्कापात्के द्वारा हमारे हृदयपर आघात न करती रहे और यदि ऐक्यरसकी चरमताको लाँघकर उसमें और-कोई उद्देश्य उग्र न हो उठे, तभी इस कवितामें हम सृष्टि-लीलाको स्वीकार करेंगे।

गुलाबके फूलसे हमें आनन्द मिलता है। वर्णमें गन्धमें रूपमें रेखामें हम उस फूलमें 'एक'की ही सुषमाको देखते हैं। उसमें हमारे आत्माका जो 'एक' है वह आत्मीयताका अनुभव करता है। फिर उसके और-किसी मूल्यकी आवश्यकता नहीं रह जाती। आत्माका 'एक' बाहरके 'एक'में अपनेको पाता है इसीलिए हम उसे 'आनन्दरूप' कहते हैं।

गुलाबमें सुनिहित सुषमायुक्त जो ऐक्य है वही ऐक्य निखिलके अन्तरमें भी है। समग्रताके सङ्गीतके साथ गुलाबके सब-कुछका मेल है, विश्वने उसकी सुषमाको अपना मानकर अपनाया है।

इसी बातको और-एक तरहसे समझानेकी कोशिश करता हूँ। हम जब अर्थोपार्जन करना चाहते हैं तब हमारे अर्थोपार्जनकी तरह-तरहकी चेष्टा और चिन्तामें एक ऐक्य रहता है। विभिन्न प्रयासोंमें लक्ष्यकी एकता अर्थकामी व्यक्तिको आनन्द देती है। किन्तु यह लक्ष्य अपने उद्देश्यमें ही खण्डित होता है, विश्वकी सृष्टि-लीलाके साथ संयुक्त नहीं होता। अर्थलोलुप व्यक्ति विश्वको कुतर-कुतरकर टुकड़े-टुकड़े करके अपने मुनाफेमें जमा करता रहता है। अर्थ-लिप्साका यह ऐक्य बड़े ऐक्यपर आघात करता रहता है। इसीलिए जहाँ उपनिषद्ने कहा है 'निखिल विश्वको एकके द्वारा पूर्ण करके देखो', वहीं यह भी कहा है 'मा गृधः', 'लोभ मत करो'। कारण, लोभसे 'एक'की धारणासे 'एक'के आनन्दसे, वंचित होना पड़ता है। लोभीके हाथमें कामनाकी मात्र वही एक लालटेन होती है जो एक खास सङ्कीर्ण क्षेत्रमें अपने समस्त आकाशको घनीभूत करती है; और बाकी समस्त क्षेत्रके साथ उसका असामंजस्य गाढ़े अन्धकारके रूपमें घनीभूत हो उठता है। फलतः लोभके इस सङ्कीर्ण ऐक्यके साथ सृष्टिके ऐक्यकी, रस-साहित्य और ललितकलाके ऐक्यकी, सर्वथा भिन्नता

है। निखिलको विच्छिन्न करनेमें होता है लाभ, और निखिलको एक करनेमें होता है रस। लखपती अपने रुपयोंकी थैली लिये भेदकी घोषणा करता है, और गुलाब अखिलका दूत है, वह पूर्णका सन्देश लिये फूलता है। जो 'एक' असीम है वही तो गुलाबके हृदयको पूर्ण करके उसमें विराजता है। कवि कीट्सने अपनी कवितामें निखिल एकके साथ उस ग्रीकपात्रके ऐक्यकी बात कही है। उन्होंने कहा है :—

Thou silent form, dost tease us out of thought,
As doth eternity.

'हे नीरव मूर्ति, तुम हमलोगोंके चित्तको व्याकुल करके समस्त विचारोंसे बाहर ले जाती हो, जैसा कि असीम ले जाता है।'

कारण, 'अखण्ड एक' की मूर्ति चाहे किसी भी आकारमें क्यों न हो, वह असीमको ही व्यक्त करती है ; इसीलिए वह अनिर्वचनीय है, मन और वाक्य उसका छोर न पाकर लौट-लौट आते हैं।

असीम 'एक'का यह आवेग ऋतुओंकी डालियोंको बार-बार फूलोंसे भर-भर देता है किन्तु कभी निबटता नहीं। सृष्टिका यही आवेग रूपदक्षकी कारुकलामें आविर्भूत होकर हमारे चित्तको उदास करके विचारोंके बाहर ले जाता है। 'असीम एक'का यह आवेग ही तो वह वेदना है जिसे वेदने कहा है, 'समस्त आकाशको व्यथित किये-हुए है।' वह आकाश 'रोदसी' 'क्रन्द्रसी', वह रो रहा है। सृष्टिका यह रुदन रूप-रूपमें, किरण-किरणमें, आकाश-आकाशमें नाना आवर्तनोंमें आवर्तित है, सूर्य-चन्द्रमें, ग्रह-नक्षत्रमें, अणु-परमाणुमें, सुख-दुःखमें, जन्म-मरणमें। सम्पूर्ण आकाशका वह क्रन्दन मनुष्यके हृदयमें आकर बज रहा है। सम्पूर्ण आकाशका क्रन्दन ही एक सुन्दर जलपात्रकी रेखा-रेखामें मौन होकर दिखाई देता है। उस पात्रसे अनन्त आकाशके अमृत-निर्झरकी रस-धारा भरनेके लिए ही तो शिल्पीके मनको आमन्त्रण मिला था ; अव्यक्तकी गहराईमेंसे अनिर्वचनीयकी रस-धारा निकालनेके लिए। इतनी कठिनाईसे जो रस मनुष्य तक आकर पहुँचता है वह रस दैहिक प्यास मिटानेके लिए तो नहीं हो सकता। दैहिक प्यास मिटाने के लिए जो पानी है उसके लिए चाहे मटकी हो चाहे कुल्हड़ हो और चाहे

गण्डूष हो, उससे कुछ आता-जाता नहीं। उसके लिए ऐसे अपरूप पात्रकी आवश्यकता भी क्या है? कैसी विचित्र उसकी गढ़न है और कितने रंगोंकी कारीगरी है! 'समयकी बरबादी है' कहकर उसका प्रतिवाद नहीं किया जा सकता। रूपदक्षने उस एक ही घड़ेपर अपने हृदयको मानो उँड़ेल दिया है। आप कह सकते हैं, 'यह सब अपव्यय है।' मैं मानता हूँ। किन्तु सृष्टिके अपव्यय-विभागमें ही तो असीमका खास खजाना है। वहीं तो नाना रंगोंकी रङ्गिमा और नाना रूपोंकी भङ्गिमा है। जो मुनाफेका हिसाब रखते हैं वे कहते हैं, 'यह नुकसान है।' और जो संन्यासी हैं वे कहते हैं, 'यह असंयम है।' किन्तु विश्वकर्मा अपनी धोंकनी और हथौड़ा लिये कार्यव्यस्त हैं, इधर देखते ही नहीं। और विश्वकवि अपने इस अपव्यय-विभागमें लगातार अपनी थैली-झोली झाड़कर उजाड़ ही किये जा रहे हैं। फिर भी रसके व्यवसायमें आज तक उनका दिवाला नहीं पिटा।

दैहिक प्यासके अतिरिक्त और भी एक प्यास मनुष्यमें होती है। उसी प्यासकी सूचना सङ्गीत चित्र साहित्य आदि देते हैं। क्या मजाल कि उसे भुलाया जाय! वह तो अन्तस्तलवासी एककी वेदना है। वह निरन्तर यही कहता रहता है, 'मुझे बाहर व्यक्त करो, रूपमें, सुरमें, वाणीमें, नृत्यमें। जिससे जैसे बन पड़े, मेरी अव्यक्त व्यथाको व्यक्त कर दो।' यह व्याकुल प्रार्थना जिस-किसीके हृदयकी गहराई तक जा पहुँची है वह दफ्तरकी हड़बड़ी, व्यापारकी ताकीद और हितेच्छुओंकी कड़ी मनाही सब-कुछको अलग फेंककर बाहर निकल पड़ा है। उसके पास कोई सम्बल भी नहीं, केवल एक तम्बूरा हाथमें लिये वह घर छोड़कर निकल आया है, क्या करेगा, कौन जाने! उसकी अन्तरात्मामें जो एकके बाद दूसरा सुर, एकके बाद दूसरा राग बजता चला जायगा वह आखिर क्या है? वह तो वह प्रकृति नहीं जिसे विज्ञान प्रकृति कहा करता है। प्राकृतिक निर्वाचनकी खाता-बहीमें उसका तो हिसाब नहीं मिलता। प्राकृतिक निर्वाचन उसके जठरमें हुकूमत करता है। किन्तु मनुष्य पशु थोड़े ही है कि प्राकृतिक निर्वाचनकी चाबुककी चोट खाकर वह प्रकृतिके अंगुलि-निर्देशित पथपर चलेगा! लीलामय मनुष्यने प्रकृतको बुलाकर कह दिया है, 'मैं रस-विभोर हूँ, तुम्हारे हुक्मका ताबेदार नहीं। चाबुक लगाओ

तुम अपने पशुओंकी पीठपर। मैं धनी नहीं बनना चाहता, मैं पहलवान नहीं होना चाहता, मुझमें वही वेदना है जो निखिलके हृदयमें है। मैं लीलामयका साझीदार हूँ।'

हमें यह जानना होगा कि आखिर आदमी चित्र बनाने क्यों बैठता है, और क्यों वह गाता है गीत? कभी-कभी जब मैं अपने मनमें गाता हूँ तब कवि कीट्सकी तरह एक गभीर प्रश्न मुझे भी व्याकुल कर देता है। तब मैंने अपने-आपसे पूछा है, यह क्या केवल एक माया है या इसका कोई अर्थ है? किन्तु, ज्यों ही मैंने गीतके सुरमें अपनेको बहा दिया है त्यों ही मानो सब कुछका मूल्य ही बदल गया है। जो अकिञ्चित्कर था वह भी अपरूप हो उठा। क्यों? क्योंकि गीतके सुरके प्रकाशमें अब कहीं सत्यके दर्शन हुए। अन्तरात्मामें हमेशा गानकी यह दृष्टि नहीं होती इसलिए सत्य तुच्छ होकर दूर हट जाता है। हम इस बातका अनुभव ही नहीं कर सकते कि छोटा हो या बड़ा, सत्यका प्रत्येक रूप ही अनिर्वचनीय होता है। नित्य-अभ्यासका स्थूल परदा सत्यकी दीप्तिको ढक देता है। उस परदेकी ओटमें जो सत्यलोक है वहाँ हमें सुरका वाहन ही ले जाता है; वहाँ पैदल चलकर नहीं जाया जा सकता, वहाँ जानेका रास्ता किसीने आँखोंसे नहीं देखा। मेरी बातोंमें कवित्व ज्यादा लगाने लगा, क्यों? तुम सोच रहे होगे, बहुत ज्यादती हो रही है। तो जरा समझाकर कहनेकी कोशिश करूँ।

जिस ज्ञान-राज्यमें हमारा मन विचरण करता है उसका रूप दोरुखा है। उसका एक रुख है 'तथ्य', और दूसरा 'सत्य'। जैसा-कुछ है वैसा ही होना तो हुआ 'तथ्य', और यह तथ्य जिस वस्तुके अवलम्बनपर रहता है वह हुआ 'सत्य'।

मेरा व्यक्ति-रूप है अपने-आपमें आवद्ध 'मैं'। यह जो तथ्य है, यह है अन्धकारवासी। यह स्वयं अपनेको प्रगट नहीं कर सकता। इसका परिचय जब भी कोई पूछेगा, तो एक बड़े सत्यके माध्यमसे, जिसपर यह आधारित है, इसका परिचय देना पड़ेगा। पूछनेपर कहना पड़ेगा, 'मैं भारतीय हूँ।' किन्तु 'भारतीय' क्या है? वह तो एक अविच्छिन्न वस्तु है, उसे न छुआ जा सकता है, न पकड़ा जा सकता है। सो हो, किन्तु उस व्यापक सत्यके द्वारा ही

तथ्यका परिचय होता है। तथ्य खण्डित होता है, स्वतन्त्र होता है,—सत्यमें ही वह अपने वृहत् ऐक्यको प्रकाशित करता है। मैं व्यक्तिगत 'मैं'-तथ्यमें 'मैं मनुष्य हूँ' इस सत्य को जब प्रकट करता हूँ, तभी 'विराट एक' के प्रकाशमें मैं नित्यतासे उद्भासित हो जाता हूँ। तथ्यमें सत्यका प्रकाश ही वास्तवमें प्रकाश है।

साहित्य और ललित-कलाका काम ही है 'प्रकाश करना', इसलिए तथ्यके पात्रको आश्रय करके हमारे मनको सत्यका स्वाद देना ही उसका मुख्य काम है। यह स्वाद है 'एक' का स्वाद, असीमका स्वाद। मैं 'व्यक्तिगत मैं हूँ' यह तो हुई मेरी सीमाकी तरफकी बात,— यहाँ मैं 'व्यापक एक'से विच्छिन्न हूँ। और, 'मैं मनुष्य हूँ' यह हुई मेरी असीम-अभिमुखी दिशा। यहाँ मैं उस विराट् एकसे युक्त होकर प्रकाशमान हूँ।

चित्रकार जब चित्र बनाने बैठता है तब तथ्यका संवाद देने नहीं बैठता। वह तथ्यको उसी हद तक स्वीकार करता है जिस हद तक उसको उपलक्ष्य करके किसी एक सुषमाका छन्द विशुद्ध रूपमें मूर्त हो उठता है। यह छन्द विश्वका नित्य पदार्थ है। इसी छन्दके ऐक्य-सूत्रमें ही हम तथ्योंमें सत्यका आनन्द पाते हैं। इस विश्व-छन्दके आलोकमें उद्भासित बिना हुए तथ्यका हमारे लिए कोई मूल्य ही नहीं।

गोधूलि-वेलामें एक बालिका मन्दिरसे बाहर निकली, मात्र तथ्यके रूपमें यह बात हमारे लिए अत्यन्त साधारण है। ऐसा सुनते ही हमारी आँखोंमें वह चित्र स्पष्ट होकर फूट नहीं उठता, सुनकर भी हम उसे नहीं सुनते; एक चिरन्तर एक-रूपमें वह हमारे हृदयमें स्थान नहीं बना सकता। यदि कोई पीछा न छोड़नेवाला वक्ता हमारा ध्यान खींचनेके लिए बार-बार इसकी पुनरावृत्ति करता रहे, तो हम झुँझलकर कहेंगे, 'सुन तो लिया कि एक लड़की मन्दिरसे बाहर निकली। उससे हमारा क्या?' अर्थात्, उससे हम अपना कोई सम्बन्ध अनुभव नहीं करते इसलिए वह घटना हमारे लिए सत्य ही नहीं। किन्तु जिस क्षण छन्द सुर और उपमाके संयोगसे यही साधारण घटना एक सुषमाके अखंड ऐक्यमें सम्पूर्ण होकर दिखाई दी उसी क्षण यह प्रश्न ही शांत हो गया कि 'उससे हमारा क्या।' कारण, जब हम सत्यका पूर्ण रूप देखते हैं तब हम

उसके साथ व्यक्तिगत सम्बन्धके द्वारा आकृष्ट नहीं होते, आकृष्ट होते हैं सत्य-गत सम्बन्धसे । गोधूलिवेलामें बालिका मन्दिरसे बाहर निकली, इस बातको तथ्यके हिसाबसे यदि पूरा करना होता तो शायद और भी बहुतसी बातें कहनी पड़तीं। क्योंकि इसमें आस-पासकी बहुतसी बातें ही कहनेसे रह गई हैं। और कवि शायद यह भी कह सकता था कि उस समय बालिकाको भूख लग रही थी और वह मन-ही-मन किसी खास मिठाईकी बात सोच रही थी। संभव है कि तब उसमें यही चिन्ता सबसे प्रबल हो। किन्तु तथ्य संग्रह करना कविका काम नहीं। इसलिए अनेक मुख्य-मुख्य बातें उसके वर्णनमें नहीं आ पातीं। उस तथ्यका बाहुल्य छँट जानेसे ही सङ्गीतके बन्धनमें यह छोटी-सी बात ऐसे एकत्वसे परिपूर्ण हो उठी है, और कविता ऐसी संपूर्ण अखंड होकर जगी है कि इस मामूली तथ्यके भीतरके सत्यको पाठकोंका मन ऐसी गहराईके साथ अनुभव कर सका है। इस सत्यके ऐक्यको अनुभव करते ही हमें आनन्द मिलता है।

यथार्थ गुणी जब घोड़ेका चित्र बनाता हैं तो रंग और रेखाके सहारे एक सुषमाका उद्भावन करके उस घोड़ेको वह एक सत्यके रूपमें हम तक पहुँचा देता है, तथ्यके रूपमें नहीं। तब उस चित्रसे व्यर्थकी दोष-त्रुटिकी विक्षिप्तता निकल जाती है, और चित्र अपने निरतिशय ऐक्यको प्रकट करता है। तथ्यगत घोड़ेके बहुल आत्मत्यागके बाद कहीं यह ऐक्य वाधा-रहित विशुद्ध-रूपमें व्यक्त होता है।

किन्तु, तथ्यके लिए सुविधा यह है कि उसकी परीक्षा सहज है। घोड़ेका चित्र ठीक घोड़े-जैसा ही बना है, इस बातको प्रमाणित करनेमें देर नहीं लगती। घोर अरसिक व्यक्ति भी कानकी नोंकसे लेकर पूँछ तक ठोंक-बजाकर मिला ले सकता है। लेखा-जोखामें जरा भी फर्क पड़नेसे गंभीरतासे सिर हिलाकर नम्बर काट सकता है। चित्रमें घोड़ेको फकत घोड़ा ही दिखाया जाय तो पाई-पाई हिसाब मिल जाय। किन्तु, घोड़ा कहीं उपलक्ष्य हुआ और चित्र ही हुआ लक्ष्य, तो हिसाबकी बही बन्द कर देनी पड़ती है।

वैज्ञानिक जब घोड़ेका परिचय देना चाहते हैं तो उन्हें एक श्रेणीगत सत्यका सहारा लेना पड़ता है। यह घोड़ा क्या है? न, एक जाति-विशेषका

स्तन्यपायी चौपाया जीव है। ऐसी एक व्यापक भूमिकाके बिना परिचय देनेका कोई उपाय ही नहीं।

साहित्य और कलाकी भी एक व्यापक भूमिका है। साहित्य और कलामें कोई वस्तु जो सत्य है उसका प्रमाण मिलता है रसकी भूमिकामें, अर्थात् वह वस्तु जब ऐसी एक रूप-रेखा-गीतकी सुषमा-युक्त एकता पा लेती है जिसके द्वारा हमारा चित्त आनन्दके मूल्यपर उसे सत्य मान लेता है, तभी उसका परिचय सम्पूर्ण होता है। ऐसा यदि न हो और साथ ही तथ्यकी दृष्टिसे वह वस्तु बिलकुल ही त्रुटिहीन हो, तो अरसिक उसके गलेमें वरमाला भले ही पहना दें, रसज्ञ उसका वहिष्कार ही करेंगे।

किसी-एक जापानी शिल्पीके चित्रमें मैंने देखा था, मूर्तिके सामने सूरज है किन्तु पीछे छाया नहीं है। एक बच्चा भी जानता है कि ऐसी दशामें लम्बी छाया पड़ती है। किन्तु चित्रकी रचना तो वस्तुविद्याके परिचयके लिए नहीं। कला-रचनामें जो डरते-डरते तथ्यकी मजूरी करते हैं वे भी क्या शिल्पी हैं!

अतएव, रूपके क्षेत्रमें रसके सत्यका प्रकाश करना हो तो तथ्यकी गुलामीसे छुट्टी लेनी पड़ेगी। एक लोरीसे इसका उदाहरण देता हूँ :—

"मुन्ना नाव चढ़े आया घर,
जुतवा टुक-टुक लाल पहनकर।"

जूता तथ्यके दायरेमें आता है, इसमें किसी प्रकारके सन्देहकी गुंजाइश ही नहीं। चीनी मोचीकी दूकानपर कुछ रुपये देते ही ठीक नापका मन-पसन्द जूता सब-कोई ले सकते हैं। किन्तु, यह 'जुतवा'? चीनी मोचीकी कौन कहे, विलायती दूकानके मैनेजरको भी इसका पता नहीं। असलमें 'जुतवा'की खबर रखती है मा, या रखता है मुन्ना। अतएव, इस सत्यको प्रकाशमें लानेके लिए 'जूता'-शब्दकी भद्रताको नष्ट करना पड़ा। इससे हमारा शब्द-सागर विक्षुब्ध हो सकता है, किन्तु, तथ्यका जूता सत्यके क्षेत्रमें नहीं चलता इसलिए व्याकरणके आक्रोशकी भी उपेक्षा करनी पड़ती है।

कविता जिस भाषाका व्यवहार करती है उस भाषाके प्रत्येक शब्दका अभिधान-निर्दिष्ट अर्थ है। उस विशेष अर्थमें ही शब्दकी तथ्य-सीमा है। उस सीमाको लाँघकर शब्दोंसे ही तो सत्यकी असीमताको प्रकाशमें लाना होगा।

इसीके लिए न-जाने कितने संकेत, कितने कौशल, कितनी भाव-भङ्गिमाएँ हैं ! यहाँ ज्ञानदासका एक पद याद आ रहा है जिसका भाव है :—

"रूप-उदधिमें नयन-मीन दो डूबे, यौवन-वनमें मन-पंछी पथ भूला।"

इस कविताको सुनकर कोई तथ्यवागीश भला क्या कहेंगे ! अगर डूबकी मारना है तो पानीका सागर पड़ा है, यह 'रूपका सागर' क्या होता है ! और आँखें यदि डूब ही जायँगी तो फिर देखा किस चीजसे जायगा ? और यह 'यौवनका वन' किस देशका वन है ? वहाँ 'पथ' मिलता किसे है, और वह 'पथ' खोता कैसे है ? जो लोग तथ्य खोजते हैं उन्हें यह समझना चाहिए कि निर्दिष्ट अर्थ दुर्ग बनाये बैठा है। छल-बल-कौशलसे उसीमें नाना छिद्र करके नाना सँधों और नाना ओटोंमेंसे सत्यको दिखाना होगा। दुर्गकी पत्थरकी गथनी दिखानेका काम तो कविका नहीं है। जो तथ्यपर दृष्टि रखते हैं उनके हाथों कवियोंकी क्या दुर्दशा होती है, उसका एक उदाहरण देता हूँ।

मैंने एक कवितामें बौद्ध-कहानी लिखी थी। उसका विषय था, किसी समय भिक्षु अनाथपिण्डद सवेरे भगवान बुद्धका नाम लेकर श्रावस्तीके पथपर भिक्षा माँगने निकले। धनियोंने धन लाकर दिया, श्रेष्ठियोंने लाकर दिये रत्न, और राज-घरानोंकी वधुओंने उपस्थित किये हीरे-मोतियोंके कण्ठे। सारीकी सारी चीजें राहमें बिखरी ही रह गईं, भिक्षाकी झोलीमें किसीको स्थान नहीं मिला। दिन डूब रहा था। सड़कके किनारे एक पेड़के नीचे भिक्षुकी दृष्टि पड़ी नगरके बाहर एक भिखारिन स्त्रीपर। उसके पास कुछ भी नहीं था, बदनपर था एक फटा चीर। अपनेको पेड़की ओटमें छिपाकर भिखारिनने अपना वह वस्त्र उतारकर प्रभुके लिए दान कर दिया। अनाथ-पिण्डदने कहा, "बहुतोंने 'बहुत' दिया है, किन्तु 'सब' तो किसीने नहीं दिया। अब मेरे प्रभुके योग्य दान मिला है। मैं धन्य हुआ।"

एक प्रौढ़ विज्ञ धर्मप्राण प्रसिद्ध व्यक्ति इस कविताको पढ़कर लज्जित हुए थे। उन्होंने कहा था, "यह कविता तो बच्चोंके पढ़ने-योग्य नहीं है।" ऐसे ही मेरे भाग्य हैं, मेरी लंगड़ी लेखनी नालेमें गिरनेको ही है। यद्यपि कहानीको मैं बौद्ध-धर्मग्रन्थसे आहरण कर लाया था, फिर भी उससे साहित्यकी आबरू नष्ट

हुई ! नीति-निपुणकी दृष्टिमें तथ्य ही बड़ा हो उठा, सत्य ढका रह गया। हाय रे कवि, पहले तो भिखारिनसे दान लेना ही तथ्यके हिसाबसे अधर्म है, फिर यदि लेना ही पड़े तो उसकी पत्तोंकी झोंपड़ीकी टूटी झाँप या एकमात्र मिट्टीकी हाँड़ी ले ली होती। इससे साहित्यके स्वास्थ्यकी तो रक्षा होती। तथ्य की ओरसे यह बात सिर नवाकर माननी ही पड़ेगी। यहाँ तक कि मुझ-जैसा कवि भी यदि तथ्यके जगत्‌में भीखके लिए निकलता तो ऐसा गर्हित काम हर्गिज नहीं करता, और तथ्यके जगत्‌में पागलखानेके बाहर ऐसी कोई भिखारिन भी नहीं मिलती जो दानमें अपने शरीरका एकमात्र वस्त्र उतारकर दे देती। किन्तु सत्यके जगत्‌में स्वयं भगवान् बुद्धके प्रधान शिष्यने ऐसी भिक्षा ली है और भिखारिनने ऐसी अद्भुत भिक्षा दी है। उसके बाद वह भिखारिन रास्तेसे कैसे अपने घर गई होगी, यह तर्क सत्यके जगत्‌से सर्वथा लुप्त हो गया। तथ्यका क्षेत्र ही ऐसा है। रस-वस्तु और तथ्य-वस्तुका एक धर्म और एक मूल्य नहीं होता। तथ्य-जगत्‌की जो आलोक-रश्मि दीवारपर आकर रुक जाती है, रस-जगत्‌में वह रश्मि स्थूलको भेदकर अनायास ही पार हो जाती है, उसे न तो किसी राजको बुलाना पड़ता है, न सेंध मारनी पड़ती है। रस-जगत्‌में भिखारिनका चीर होते-हुए भी नहीं है, उसका मूल्य भी उसी तरह लखपतीके सम्पूर्ण ऐश्वर्यसे बड़ा है। ऐसा ही उलटफेर है।

तथ्यके जगत्‌में एक अच्छा डाक्टर सभी तरहसे योग्य हो सकता है; किन्तु उसके पैसा और प्रसिद्धि चाहे जितनी ही क्यों न हो, उसपर चौदह पंक्तिकी कविता भी नहीं लिखी जा सकती। और कोई गरजमन्द यदि लिख ही बैठे तो, उस बड़े डाक्टरसे सम्बन्धित होनेपर भी, कविताकी आयु चौदह दिनकी भी नहीं होगी। अतएव, रस-जगत्‌की आलोक-रश्मि एक इतने बड़े डाक्टरके भीतरसे भी पार हो जाती है। किन्तु, उस डाक्टरको जो प्राण-मनसे प्यार करती है उसके आगे डाक्टर रस-वस्तु होकर प्रकट होता है। और ऐसा होते ही उस डाक्टरको लक्ष्य करके उसकी प्रेमासक्ता अनायास ही कह सकती है :—

"जनम अवधि हम रूप निहारलुँ नयन न तिरपित भेल,
लाख-लाख युग हिय-हिय राखलुँ तइयो हिया जुड़ल न गेल।"

हिसाबी लोग कहेंगे, लाख-लाख युग पहले डरविनके मतानुसार डाक्टरकी पूर्वतन सत्ता क्या थी, यह चर्चा छेड़ना यहाँ नीति-विरुद्ध न होनेपर भी रुचि-विरुद्ध अवश्य है। जो हो, सीधी बात यह है कि डाक्टरकी जन्मकुण्डलीमें लाख-लाख युगका अङ्कपात हो ही नहीं सकता।

तर्क करना व्यर्थ है, कारण यह बात शिशु भी जानता है। डाक्टर जो है वह तो उस दिन पैदा हुआ है, किन्तु जो बन्धु है वह जो नित्यकालका हृदयका धन है। वह किसी एक कालमें नहीं थी और किसी एक कालमें नहीं रहेगी, इस बातको तो मैं मनमें भी नहीं ला सकता।

ज्ञानदासकी दो पंक्तियाँ याद आती हैं, जिनका भाव है :—

"गिना एक दो, हारा, उसका नहीं अन्त पर पाया,
प्रेम-रूप-रस-गुण इन ही में हिय-अनुराग बढ़ाया।"

एक-दोका क्षेत्र विज्ञानका क्षेत्र है। किन्तु, रस-सत्यके क्षेत्रमें प्राण-मनका जो अनुराग बढ़ता रहता है वह तो अङ्कके हिसाबसे नहीं बढ़ता। वहाँ 'एक-दो' की बला नहीं, पहाड़ेकी शरारत नहीं।

अतएव, काव्य या चित्रके क्षेत्रमें जो लोग 'सर्वे'-विभागका मापदण्ड लेकर सत्यके चारों ओर तथ्यका इलाका आँककर निशान गाड़ना चाहते हैं, ऐसोंकी ओर देखकर गुणियोंने सदासे विधाताके दरबारमें फरियाद की है :—

"इतर तापशतानि यथेच्छया वितर तानि सहे चतुरानन।
अरसिकेषु रसस्य निवेदनम् शिरसि मा लिख, मा लिख, मा लिख।"

"चाहे दुःख और जो दो, विधि, सब सह लूँगा हँसकर,
अरसिकसे कवित्त कहनेका एक अभाग नहीं पर।"

कलकत्ता-विश्वविद्यालय-व्याख्यानमाला
फाल्गुण १९८०

—

सृष्टि

आज जब इस व्याख्यान-सभामें आनेको तैयार हो रहा था तब सुना, हमारे मुहल्लेकी गलीमें शहनाई बज रही है। पता नहीं, किसके घर विवाह है। खम्माचकी करुण तानने शहरके आकाशमें आँचल-सा बिछा दिया था।

उत्सवके दिन वंशी क्यों बजती है? वह अपनी स्वरलहरीसे दैनन्दिन जीवनकी टूट-फूट और मलिनताको लीपकर साफ कर देना चाहती है। मानो दफ्तरके प्रयोजनके लौह-पथपर कुश्रीताकी रथयात्रा नहीं चल रही है, मानो क्रय-विक्रयका मोल-तोल कुछ भी नहीं है। सब-कुछको उसने ढक दिया है। 'ढक दिया है' कहना ठीक नहीं, बल्कि यों कहना चाहिए कि परदा उठा दिया है,– ट्रामोंके आवागमनका, खरीद-बिक्रीका, हो-हल्लाका परदा। और वह वर-वधूको ले गई है नित्यकालके अन्त:पुरमें, रसके लोकमें।

तुच्छताके संसारमें, खरीद-बिक्रीकी दुनियामें वर-वधू भी तुच्छ हैं; कौन तो जानता है उनका नाम-ग्राम और कौन उनके लिए आसन छोड़ देता है! किन्तु, रसके नित्यलोकके वे राजा-रानी हैं। चारों ओरके क्या छोटे और क्या बड़े, सब-कुछसे अलग करके उन्हें लाकर कमखाबके सिंहासनपर वरण करना होगा। प्रतिदिन वे तुच्छताका अभिनय करते हैं इसीलिए प्रतिदिन वे छायाके समान अकिञ्चित्कर हैं। आज वे सत्य-रूपमें प्रकाशमान हैं, आज उनके मूल्यकी सीमा नहीं। उनके लिए आज दीपोंकी माला सजाई गई है, फूलोंकी डाली सुसज्जित है, उन्हें वेद-मन्त्रसे आशीर्वाद करनेके लिए चिरन्तन काल उपस्थित है। ये वर-वधू, ये दो व्यक्ति, जो सत्य हैं, किसी राजा-महाराजासे कुछ कम सत्य नहीं। सारा संसार इनके इस परिचयको छिपाये रखता है। किन्तु, इनके इस नित्य-परिचयको प्रकट करनेका भार लिया है उस बाँसुरीने। कल्पना करो, किसी समय तपोवनमें एक लड़की रहती थी, उस समयकी हजारों लड़कियोंके समान वह भी साधारणताके कुहरेमें ढकी थी। उसे देखकर एक दिन राजाका हृदय मोहित हो गया था; और फिर उसीको एक दिन राजाने छोड़ दिया था। उस समय ऐसी घटनाएँ कितनी घटीं, इसकी कौन खबर रखता है! तभी तो राजाने अपनेको लक्ष्य करके

कहा है, 'सकृत्प्रणयोऽयं जनः।' राजाके सकृत्प्रणयके प्रात्यहिक उच्छिष्टोंपर दृष्टि रखनेका, उसे याद रखनेका, इतना समय किसके पास था? काम-काज तो कोई रुके नहीं रहते, क्रय-विक्रय तो चलता ही रहता है, बाजारमें भीड़-भब्भड़ भी रहता ही है। ऐसे संसारके पथपर हंसपदिकाओंके पद-चिह्न कहीं नहीं पड़ते, उन्हें ढकेलते-हुए जीवन-यात्राके अनेक यात्री अपनी व्यस्ततामें चलते चले जाते हैं। किन्तु, तपोवनकी एक बालिकाको 'असंख्य'के तुच्छ-लोकसे निकालकर 'एक'के सत्य-लोकमें इस प्रकार सुस्पष्ट करके किसने खड़ा किया? वह भी तो कविकी एक वंशी ही थी। जो सत्य प्रात्यहिक ट्रामोंकी घड़घड़ाहट और दर-दामके हुल्लड़में दबा पड़ा रहता है उसी सत्यके उद्धारके लिए हमारी गलीकी मोड़पर खम्माचकी करुण रागिनी अमृत बरसा रही है।

तथ्यकी सङ्कीर्णतासे निकलकर ज्यों ही मनुष्य सत्यकी असीमतामें प्रवेश करता है त्यों ही उसके मूल्यमें कितना परिवर्तन होता है, यह क्या हम नहीं जानते? एक चरवाहा जब ब्रजका गोपाल बनकर हमारे सामने आता है तब क्या उसका मूल्य मथुराके राजपुत्रके रूपमें आँका जाता है? तब क्या उसकी लाठीकी महिमा गदा-चक्रसे कुछ कम होती है; और उसकी बाँसुरी क्या पाञ्चजन्यके आगे लज्जित होती है? जो सत्य है वह क्या मणियोंकी माला फेंककर वन-फूलोंकी माला पहननेमें कुण्ठित होता है? उस गोपाल-वेशके सत्यको कौन प्रकट कर सकता है? प्रकट कर सकती है कविकी बाँसुरी। अपनी महिमाके प्रकाशके लिए राजा-महराजाओंने न-जाने कितना आयोजन किया! फिर भी आजके बाद कल अपने उस विपुल आयोजनका बोझ लिये हुए वे आँधीके बादके बादलोंके समान दिगन्तरालमें विलीन हो गये। किन्तु, साहित्यकी अमरावतीमें, कलाके नित्य-निकेतनमें एक पथका भिखारी जिस अखण्ड-सत्यमें विराज रहा है उस सत्यका क्षय नहीं। रोमियो-जुलियेटको जब हम साहित्यके जगत्में देखते हैं तब कोई भी मूढ़ यह नहीं पूछता कि 'बैङ्कमें उनकी कितनी रकम जमा है, षड्दर्शनमें उनका कहाँ तक दखल है, देव और ब्राह्मणोंके प्रति उनके श्रद्धा-भक्ति है या नहीं अथवा सन्ध्या-आह्निकमें उनकी निष्ठा कहाँ तक है।' 'वे सत्य हैं', यही उनकी महिमा है, साहित्य इसीको प्रमाणित करता है। यदि इस सत्यमें रत्ती-भर भी अन्तर आ जाय, फिर

चाहे नायक-नायिका दोनों मिलकर दशावतारकी सुनिपुण वैज्ञानिक व्याख्या या 'गीता'के श्लोकोंसे देशात्मबोधका आश्चर्यजनक अर्थ ही क्यों न उद्घाटन करें, फिर भी उनकी कोई रक्षा नहीं कर सकता।

केवल मनुष्य ही क्यों, अजीव सामग्रीको भी जब हम काव्य-कलाके रथमें रखकर तथ्यकी सीमासे बाहर ले जाते हैं तब सत्यके मूल्यसे वह मूल्यवान हो उठती है। कलकत्तेमें हमारी एक कट्ठा जमीनकी कीमत पाँच-दस हजार रुपया हो सकती है, लेकिन सत्यके राज्यमें हम उस दामको दाम ही नहीं मानते। दाम तो वहाँ खण्ड-खण्ड होकर बिखर जाता है। परिहासके द्वारा अपमानित होता है। नित्यलोकमें रसलोकमें तथ्य-बन्धनसे यह जो मनुष्यकी मुक्ति है, यह क्या साधारण मुक्ति है? इस मुक्तिका अपने-आपको स्मरण करा देनेके लिए मनुष्यने गीत गाये हैं, चित्र बनाये हैं; अपने सत्यके वैभवको हाट-बाजारसे बचाकर सुन्दरके नित्य-भण्डारमें सजा रखा है; अपने कपर्दक-हीन धनको कपर्दक-हीन बाँसुरीके सुरमें पिरो रखा है। और अपने-आपसे ही बार-बार कहा है, 'उस आनन्द-लोकमें ही तुम्हारा सत्य प्रकाश है।'

मैं क्या समझाऊँ तुम्हें, किसे साहित्य कहते हैं और किसे कहते हैं चित्रकला। विश्लेषणके द्वारा मैं क्या इसके मर्म तक पहुँच पाता हूँ! कब किस आदि उत्ससे इसके स्रोतकी धारा बह निकली, यह तभी एक क्षणमें समझा जा सकता है जब मन उस स्रोतमें अपनेको बहा देता है। आज वंशीकी स्वर-लहरीमें जब मन तैरने लगा तब समझ गया कि समझने-लायक बात उसमें कुछ भी नहीं, उसमें डुबकी लगानेसे अपने-आप सब सहज हो जाता है। नीलाकाशके इशारेने हममेंसे प्रत्येकको प्रतिदिन कहा है, 'आनन्दधाममें तुम्हारा निमन्त्रण है।' यह बात बसन्ती हवामें मर्मी विरही कविने कही है। सवेरे प्रभात-किरणके दूतने आकर धक्का दिया। 'क्या है?' तो 'तुम्हारा निमन्त्रण है।' उदास दोपहरीमें मधुप-गुञ्जित वनच्छाया दूती बनकर आई और मुझे झकझोरकर कह गई, 'निमन्त्रण है।' सन्ध्या-मेघोंमें अस्तङ्गत सूर्यच्छटामें फिर दूत आया और कह गया, 'निमन्त्रण है।' आखिर इस दूतके इतना साज-शृंगार, इतनी फूल-मालाएँ, गौरवके इतने मुकुट क्यों? किसके लिए? मेरे लिए। मैं राजा नहीं, ज्ञानी नहीं, गुणी नहीं,—मैं सत्य हूँ, इसीसे

मेरे लिए सम्पूर्ण आकाशका रंग नीला करके, समस्त पृथ्वीके आँचलोंको श्यामल करके, समस्त नक्षत्रोंके अक्षर उज्ज्वल करके आह्वानकी वाणी मुखरित हो रही है। इन निमन्त्रणोंका उत्तर नहीं देना है क्या? वह उत्तर यदि आनन्द-धामकी वाणीमें ही नहीं लिखा गया, तो क्या वह स्वीकृत होगा? इसीसे मनुष्यने मधुर स्वरमें कहा, 'मेरे हृदयके तारमें तुम्हारा निमन्त्रण बज उठा। रूपमें बजा, भावनामें बजा, कर्ममें बजा। हे चिरसुन्दर, मैंने उसे स्वीकार कर लिया। मैं भी तुम्हें उतने ही सुन्दर ढंगसे पाती भेजूँगा जिस ढंगसे तुमने भेजी है। तुमने जिस तरह अनिर्वाण नक्षत्रोंके दीप जलाकर अपने दूतके हाथमें दिये हैं, मुझे भी वैसे ही दीप जलाने होंगे, जो दीप कभी बुझते नहीं; मुझे भी ऐसी माला गूँथनी होगी जो सूखना नहीं जानतीं। मैं मनुष्य हूँ, मुझमें यदि अनन्तकी शक्ति है तो उस शक्तिके ऐश्वर्यसे ही मैं तुम्हारे आमन्त्रणका उत्तर दूँगा।' मनुष्यने यह बात साहस करके कही है, इसीमें उसका सबसे बड़ा गौरव है।

आज हमारी गलीमें जब उस शहनाईने वर-वधूके सत्य-स्वरूप अर्थात् आनन्दस्वरूपके प्रकाशका भार लिया तो मैंने अपने-आपसे पूछा, आखिर यह शहनाई किस मन्त्रसे अपना काम सम्पन्न करती है? हमारे तत्त्वज्ञानी तो कहा करते हैं, 'यह सारा संसार ही अनिश्चितके झूलेमें झूल रहा है'; कहते हैं, 'जो-भी-कुछ देख रहे हो वह सत्य नहीं है।' हमारे नीतिज्ञ कहते हैं, 'वह जो लोगोंको ललाटपर चन्दन लगाये देख रहे हो वह महज छलना है। उसके भीतर केवल खोपड़ी है, और कुछ नहीं। वह जो मधुर हँसी देख रहे, हो, उस हँसीका परदा उघाड़कर देखो तो वहाँ सूखे दाँतोंकी पंक्ति दीखेगी।' शहनाई तर्क करके उसका कोई जबाव नहीं देती। वह तो खम्माचके सुरमें कहती रहती है, 'खोपड़ी कहो चाहे दाँतोंकी पंक्ति, टिकनेको ये चाहे जितने भी दिन टिकें, किन्तु ये सब हैं असत्य ही। और, ललाटपर जो आनन्दकी सुगन्ध-लिपि है, मुँहपर जो लज्जाकी हँसी अङ्कित है, जो अभी हैं और अभी नहीं, जो छायाके समान हैं और मायाके समान हैं, जिन्हें पकड़ना चाहो तो पकड़ नहीं सकते, वही सत्य है, करुण सत्य, मधुर सत्य है, गभीर सत्य है। उस सत्यको ही संसारके समस्त आवागमनके ऊपर उज्ज्वल रूप

देकर शहनाई कह रही है, 'सत्यको जिस दिन प्रत्यक्ष देखोगे उसी दिन उत्सव है ।'

समझ गया। किन्तु इस इतनी बड़ी बातको बाँसुरी बिना किसी तर्कके प्रमाणित कैसे करती है ? इसकी चरचा 'तथ्य और सत्य'में कर चुका हूँ। बाँसुरीने 'एक'का प्रदीप जलाया है। आकाशमें रागिनीसे उसने एक ऐसे रूपकी सृष्टि की है जिसका 'छन्द और सुरमें सुसम्पूर्ण एकको चरम-रूपमें दिखाने'के सिवा और कोई उद्देश्य ही नहीं। उस 'एक'की जादूकी लकड़ी जिसपर फिर जाती है वही अपनेमें गभीर नित्य-सत्यके चिर-जाग्रत चिर-सजीव स्वरूपको प्रत्यक्ष कर दिखाता है। वर-वधूने कहा, 'हम साधारण नहीं हैं, चिरकालिक हैं।' और कहा, 'जो हमें मृत्युमेंसे देखते हैं वे मिथ्या देखते हैं। हम अमृतलोकके हैं, इसीसे गानके सिवा हम अपना और-कोई परिचय नहीं दे सकते।'

वर-वधू आज संसारके स्रोतमें बहनेवाले कोई बेमेल विशृङ्खल पदार्थ नहीं। आज वे मधुर छन्दमें एक कविताके समान, गीतके समान, चित्रके समान अपनेमें 'एक' की परिपूर्णता दिखा रहे हैं। इस 'एक'का प्रकाशतत्त्व ही सृष्टिका तत्त्व है, सत्यका तत्त्व है।

सङ्गीत किसी-एक रगिनीमें चाहे कितना ही रमणीय और सम्पूर्ण रूप क्यों न ग्रहण करे, साधारण भाषामें और बाहरकी दिशामें उसे असीम नहीं कहा जा सकता। रूपकी सीमा होती है। किन्तु रूप जब मात्र उस सीमाको ही दिखाता है तब वह सत्यको प्रकाशित नहीं करता। उसकी सीमा ही जब प्रदीपके समान असीमका दीप जलाकर लाती है तभी सत्य प्रकट होता है।

आजकी शहनाईकी धुनमें ही मैं इस बातका अनुभव कर रहा हूँ। उसकी दो-एक तानके बाद ही ऐसा लगा कि वह किसी अनाड़ीके हाथसे बज रही है, उसका सुर घटिया सुर है, बार-बार पुनरावृत्ति है, उसके स्वरमें सुरकी नम्रता कहीं भी नहीं ; वृक्ष-हीन भूमिपर छया-रहित दोपहरकी धूपके समान है वह। आवाजके तीखेपनपर ही बराबर जोर लगाया जा रहा है। सङ्गीतके आकार को ही बड़ा करनेका बलवान प्रयास है। अर्थात् सीमा अपनेको ही बड़ा करके दिखाना चाहती है। उसपर ध्यान गये विना कोई उपाय नहीं। उसके

चरमको वह अपनी पहलवानीसे ढके दे रही है। सीमा अपने संयमकी ओटमें अपनेको छिपाकर सत्यको प्रकाशित करती है। इसलिए प्रत्येक कला-सृष्टिमें सरलताका संयम एक मुख्य बात है। संयम ही सीमाकी तर्जनीसे असीमका निर्देश करता है। किसी वस्तुके अंश ही जब समग्रकी तुलनामें बड़े हो उठते हैं तब उसे असंयम कहा जाता है। इसीको कहते हैं 'एकके विरुद्ध अनेकका विद्रोह'। इस वाह्य अनेकका परिणाम जितना ही बढ़ता जाता है, 'अन्तर्यामी एक' उतना ही आच्छन्न होता जाता है। ईसाने कहा है, 'सुईके छेदमेंसे ऊँट पार हो तो हो भी सकता है, किन्तु धनकी अधिकताको लेकर कोई भी आदमी स्वर्गमें प्रवेश नहीं कर सकता।' इसका तात्पर्य यह हुआ कि धनकी अतिमात्रा मनुष्यका बाहरी असंयम है। उपकरणकी बहुलता होनेसे मनुष्य आत्माकी एकताकी उपलब्धिसे वञ्चित रहता है। उसके अधिकांश विचार और चेष्टाएँ खंडित होकर अतिसंचयमें विक्षिप्त होती रहती हैं। जो 'एक' सम्पूर्ण है, जो 'एक' सत्य है, जो 'एक' असीम है, उसके प्रकाशको धनी अपने बहुवैचित्र्यमें बखेरकर नष्ट कर देता है। जीवन-बाँसुरीमें वही तो घटिया सुर बजाता है,—जिसमें होती है तानकी कसरत, दुगुनी-चौगुनी मत्तताका पागलपन और तीव्र स्वरकी दाम्भिकता। इसीसे अरसिकोंका हृदय विस्मयाभिभूत हो जाता है। और, रूपके संयममें जो सत्यका पूर्ण-रूप देखना चाहते हैं वे रूपके जङ्गलमें प्रबलताकी दस्युवृत्ति देखकर वहाँसे भागनेकी राह ढूंढ़ते रहते हैं। वहाँ रूप पुकार-पुकारकर कहता रहता है, 'मुझे देखो।' क्यों देखें? जगत्में हम रूपके सिंहासनपर अरूपको देखने तो आये ही हैं। किन्तु, जगत्में विज्ञान जैसे अवस्तुको ढूँढ़-निकालकर कह रहा है, 'यही सत्य है' उसी प्रकार रूप-जगत्में कला अरूप-रसको दिखाकर कहती है, 'यही मेरा सत्य है।' जब उस सत्यको देख लिया तब फिर रूप मुझे लुभा नहीं सका, तब हमने कसरतको कह दिया, 'धिक्।'

पेटकी भूख मिट जानेपर भी पेटुककी मनकी भूख नहीं मिटती। स्त्रियाँ शक्ति-भर पूआ-पकवान उनकी थालीमें परोसती रहती हैं, और अन्तमें एक दिन शूलकी पीड़ामें उन्हीं स्त्रियोंको उनकी सेवाका भार भी लेना पड़ता है। साहित्य-कलाके क्षेत्रमें जो ऐसे पेटुक होते हैं वे ही रूपके लोभमें अति-भोगकी

खोज करते हैं, ऐसोंकी मुक्ति नहीं। कारण, रूपमें सत्यका आविर्भाव होते ही सत्य उस रूपसे ही मुक्ति दे देता है। जो पन्ने गिनकर पुस्तकोंका मूल्य देते हैं उनका मन पुस्तकके नीचे दबकर ही कब्रमें पहुँच जाता है।

कला-सृष्टिमें रस-सत्यके प्रकाशकी जो समस्या है वह है रूपके द्वारा ही अरूपको प्रकट करना ; अरूपके द्वारा रूपको आछन्न करके देखना; ईशोपनिषदकी उस वाणीको ग्रहण करना जिसमें कहा है 'पूर्णके द्वारा समस्त चंचलको आवृत्त करके देखो', और 'मा गृधः', 'लोभ मत करो', इस अनुशासन को मानना। सच पूछो तो सृष्टिका तत्त्व ही यही है, चाहे वह जगत्-सृष्टि हो, चाहे कला-सृष्टि। रूपको मानना भी होगा, नहीं भी मानना होगा; उसे पकड़ना भी होगा, ढकना भी होगा। किन्तु रूपके प्रति हमारा लोभ कतई न हो।

यह जो हमलोगोंकी आश्चर्यमयी देह है, इसमें बहुत-सी आश्चर्यजनक मशीनें हैं ; हाजमेकी मशीन, रक्त-सञ्चालनकी मशीन, साँस लेनेकी मशीन, विचार करनेकी मशीन। इन मशीनोंके विषयमें मानो ईश्वरको एक तरहकी बड़ी भारी लज्जा है। इसीलिए उन्होंने इन मशीनोंको अच्छी तरहसे ढक दिया है। हमलोग खाद्य-वस्तुको मुँहमें डालकर दाँतसे चबाकर खाते हैं, इस बातको प्रकट करनेके लिए हममें कोई आग्रह नहीं होता। हमारा मुख भावोंकी लीलाभूमि है, उसमें ऐसे-कुछका आभास मिलता है जो रक्त-मांससे अतीत है, जो अरूपके क्षेत्रका है ; और उसीमें मुखका मुख्य परिचय है। मांसपेशियाँ अत्यावश्यक हैं, उनके काम भी बहुत हैं ; किन्तु उनपर मुग्ध हम कब होते हैं जब वे देहके सङ्गीतको अपनी गति-लीलासे प्रकाशित करती हैं। जिन्होंने मेडिकल कालेजमें शरीर-विज्ञानका विश्लेषणात्मक अध्ययन किया है उनसे सृष्टिकर्ता कहते हैं, 'हमें तुम्हारी प्रशंसाकी जरूरत नहीं।' क्योंकि सृष्टिकी चरमता कौशलमें नहीं है। वे कहते हैं, 'जगत्-यन्त्रके यन्त्रीके रूपमें मैं जो एक अच्छा इञ्जिनियर हूँ, इस बातको तुमने नहीं भी जाना तो क्या है।' तो क्या जानें ? 'आनन्दरूपमें मुझे जानो।' धरतीकी परतोंमें बड़ी-बड़ी चट्टानोंकी शिला-लिपिमें उनके निर्माणका गुप्त इतिहास खुदा-हुआ है। एकपर एक परत रखकर विधाताने उसे दबा दिया है। किन्तु उन परतोंके

ऊपर, जहाँ प्राणोंका निकेतन है, आनन्दका आवास है, वहाँ चन्द्र-सूर्यका प्रकाश डालकर वे कितनी लीलाएँ चला रहे हैं उसकी कोई हद नहीं। जब यह आवरण नहीं था तब कैसा भयङ्कर काण्ड था! विश्वकर्माकी वह हथौड़ा पीटनेकी तत्परता, बड़े-बड़े पहियोंकी कैसी घड़घड़ाहट, कैसा वाष्प-निश्वास! उसके बाद वे अपने कारखानेके दरवाजे-जंगले सब बन्द करके, हरी नीली सुनहली धाराओंसे सब-कुछ धो-पोंछकर, माथेपर तारोंकी माला पहनकर, फलोंपर अपने चरण रखकर आनन्दसे रूपके आसनपर विराजमान हो गये।

इस प्रसङ्गमें और-एक बात याद आ गई। आजके जगत्‌की जो सभ्यता ताल ठोंककर पेशियोंकी बहार दिखाती-हुई सारी धरतीको कँपाती फिरती है और कारखानोंकी चिमनियोंको धूम्रकेतुके ध्वजदण्ड बनाकर आलोकके आँगनमें जो कालिख पोत रही है, उस बेआबरू सभ्यताके प्रति सृष्टिकर्ताकी लज्जा क्या तुम्हें दिखाई नहीं देती? वह बेहया आज देश-विदेशमें अपने दल बनाकर ढोल पीटती फिर रही है। न्यूयार्कसे टोकियो तक घाट और घाटियोंमें उसके उद्धत यन्त्र अपनी उत्कट श्रृङ्गध्वनिसे सृष्टिके मंगलशंखकी ध्वनिको व्यङ्ग कर रहे हैं। नग्न-शक्तिका यह दृप्त दम्भ अपनी कलुष-कुत्सित मुष्टिसे अमृतलोकके सम्मानको लूट लेना चाहता है। मानवके संसारमें आजका सबसे बड़ा दुःख, सबसे बड़ा अपमान तो इसीमें है।

मनुष्यका सबसे उत्तम परिचय यह है कि 'मनुष्य स्रष्टा है।' किन्तु, आजकी सभ्यता उसे मजदूर बनाती है, मिस्त्री बनाती है, महाजन बनाती है, लोभ दिखाकर स्रष्टाको छोटा बनाती है। मनुष्य निर्माण करता है व्यवसायके लिए, और 'सृष्टि' करता है आत्माकी प्रेरणासे। व्यवसायका प्रयोजन जब बहुत ज्यादा बढ़ता ही जाता है तब आत्माकी वाणी रुक जाती है। और धनी तब दिव्यधामके पथका चिह्न तक लुप्त कर देता है, सब रास्तोंको वह बाजारकी तरफ ले जाता है।

मनुष्यकी अन्तिम बात कहाँ है? मनुष्यके साथ मनुष्यका जो सम्बन्ध वाह्य-प्रकृतिके तथ्य-राज्यको अतिक्रम करके आत्माके सम्बन्धमें ले जाता है, जो सौन्दर्यका सम्बन्ध है, प्रेमका सम्बन्ध है, कल्याणका सम्बन्ध है, उसीमें। वहीं मनुष्यका 'सृष्टिका राज्य' है। वहाँ प्रत्येक मनुष्य अपना असीम गौरव

प्राप्त करता है, वहाँ प्रत्येक मनुष्यके लिए समग्र मनुष्यकी तपस्या होती है। जहाँ महासाधकोंने साधना की है प्रत्येक मनुष्यके लिए, महावीरोंने अपने प्राण दिये हैं प्रत्येक मनुष्यके लिए, महाज्ञानियोंने ज्ञानार्जन किया है प्रत्येक मनुष्यके लिए। और जहाँ एक धनी दसका खून चूस रहा है, जहाँ हजारों लोगोंकी स्वाधीनता छीनकर एक आदमी शक्तिशाली हो रहा है, वहाँ मनुष्यका सत्यरूप, शान्तिरूप अपनी सुन्दर सृष्टिमें प्रकट नहीं हो सकता।

जो मनुष्य लोभी है वह हमेशा ही निर्लज्ज होता है। जो आदमी शक्तिका अभिमानी है, सत्ययुगमें भी निखिलके साथ उसने अपने असामंजस्यका दम्भ किया है। किन्तु उस युगमें उसकी निर्लज्जताको उसके दम्भको तिरस्कृत करनेवाले लोग थे। उस समय मनुष्य लोभीको, शक्तिशालीको, यह कहनेमें कुण्ठित नहीं हुआ कि 'पृथ्वीपर सुन्दरकी वाणी आई है, तुम उसमें बेसुरा न छेड़ो। जगत्में आनन्द-लक्ष्मीका जो सिंहासन है वह है शतदल-कमलका, उसे तुम मदोन्मत्त हाथीकी तरह रौंदनेकी कोशिश न करो।' यही बात कविकी कविता कहती है, शिल्पीके चित्र कहते हैं। आज विवाहके अवसरपर शहनाई कह रही है, "वर-वधू, 'तुम सत्य हो' इसी बातको और-सब बातोंकी अपेक्षा बढ़ाकर अपनेमें प्रकट करो। लाख दो-लाख रुपये बैङ्कमें जम रहे हैं इसीसे तुम सत्य हो सो बात नहीं। मैं जिस सत्यकी वाणीको घोषित करती हूँ वह सत्य विश्वके छन्दमें है, चेक-बहीके अङ्कोंमें नहीं। वह सत्य परस्परके अमृत-सम्बन्धमें है, घरकी सजावटके उपादानोंमें नहीं। वही है सम्पूर्णका सत्य, 'एक'का सत्य।"

आज सोचा था कि मैं साहित्यकी कारुकारिताके विषयमें, उसके छन्दतत्त्व और रचना-रीतिके विषयमें आलोचना करूँगा। ऐसे समयमें शहनाई बज उठी। इन्द्रने सुन्दरके द्वारा कहला भेजा, "व्याख्या करके ही सब बातें कही जा सकती हैं, तपस्या करके ही सिद्धि प्राप्त की जा सकती है, क्या तुम कवि होकर भी ऐसी लोक-प्रचलित बातोंपर विश्वास करते हो? व्याख्या बन्द करके, तपस्या भङ्ग करके जो फल मिलता है, वही अखण्ड है। वह बनाई-हुई चीज नहीं, स्वतःफलित वस्तु है।" धर्मशास्त्रोंमें कहा गया है कि 'इन्द्र कठोर तपस्याके फलको नष्ट करनेके लिए ही मधुरको भेजते हैं।' मैं देवताकी ऐसी

ईर्ष्या, ऐसी प्रवंचनापर विश्वास नहीं करता। इन्द्र मधुरको इसलिए भेजते हैं कि वह सिद्धिकी परिपूर्ण अखण्ड मूर्ति कैसी है सो दिखा दे। वे कहते हैं, 'यह वस्तु युद्ध करके प्राप्त करनेकी नहीं है; यह क्रमशः थोड़ी-थोड़ी करके बनकर तैयार होनेवाली नहीं है। गीतको यदि सत्यके सुरमें बाँधना चाहते हो तो यह काम रात-दिन नाप-तौल करनेसे नहीं बननेका। तँबूरेके इस असली मध्यम-पंचम सुरको प्रत्यक्ष ग्रहण करो और अखण्ड सम्पूर्णताको अन्तरात्मामें लाभ करो, तभी समग्र गानका ऐक्य सत्य हो सकेगा।' मेनका और उर्वशी ये दोनों हैं तम्बूरेके मध्यम-पंचम स्वर, परिपूर्णताकी अखण्ड प्रतिमा। ये संन्यासीको बता देती हैं कि सिद्धिका पुरस्कार क्या है। हे स्वर्गकामी, तुम्हें स्वर्ग चाहिए? उसीके लिए तुम्हारी यह तपस्या है? किन्तु, स्वर्ग तो कारीगरों द्वारा परिश्रमसे नहीं बना, स्वर्ग तो सृष्टि है। उर्वशीके ओठोंमें जो हँसी लगी है उसकी तरफ देखो, स्वर्गके सहज सुरका स्वाद मिलेगा। तुम मुक्तिकामी हो, मुक्ति चाहते हो? धीरे-धीरे अस्तित्वके जालको तोड़ फेंकनेको तो मुक्ति नहीं कहते। बन्धनहीन शून्यता तो मुक्ति नहीं है। मुक्ति तो सृष्टि है। मेनकाकी कवरीमें जो पारिजात-पुष्प लगा है उसकी ओर देखो, मुक्तिके पूर्णरूपकी मूर्ति देख पाओगे। विधाताका रुद्ध आनन्द उसी पारिजातमें मुक्त हुआ है, वही अरूप आनन्द-रूपमें प्रकट होकर पूर्ण हुआ है।

बुद्धदेवने जब बोधिवृक्षके नीचे बैठकर कृच्छ्र साधन किया था तब उनकी पीड़ित अन्तरात्माने कहा था, 'नहीं हुआ', 'नहीं मिला'। अपनी प्राप्तिके पूर्ण रूपकी प्रतिमा बाहर उन्हें कब दिखाई दी? जब सुजाताने उन्हें अन्न लाकर दिया तब। वह क्या केवल दैहिक अन्न था? उसमें जो भक्ति थी, प्रीति थी, सेवा थी, सौन्दर्य था, उससे पायसान्नमें ही अमृत अति-सहजमें प्रकट हो उठा। सुजाताको क्या इन्द्रने नहीं भेजा था? उस सुजातामें ही क्या अमरावतीकी यह वाणी नहीं थी कि 'मुक्ति कृच्छ्रसाधनमें नहीं, मुक्ति है प्रेममें? भक्त-हृदयके अन्न-उत्सर्गमें मातृहृदयका जो सत्य निहित था उस सत्यसे ही क्या बुद्धने नहीं कहा कि 'एक पुत्रके प्रति माताका जो प्रेम होता है उसी अपरिमेय प्रेमसे सम्पूर्ण विश्वको अपना समझकर देखनेको ही ब्रह्म-विहार कहते हैं'? मुक्ति शून्यतामें नहीं, पूर्णतामें है; पूर्णता सृष्टि करती है, ध्वंस नहीं करती।

मानवात्माका जो प्रेम असीम आत्माके आगे अपनेको एकान्त-रूपसे समर्पण करके ही आनन्द पाता है, इससे अधिक और कुछ भी नहीं चाहता, ईसाने उसीके सहज स्वरूपको बाहरकी मूर्तिमें कहीं देखा था। इन्द्रने अपनी सृष्टिसे उस मूर्तिको उनके पास भेजा था। मर्था और मेरी दोनों उनकी सेवा करने आई थीं। मर्था थी कर्तव्यपरायण, सेवाकी कठोरतामें वह सतत व्यस्त रहती थी। मेरीने उस व्यस्तताके भीतरसे आत्म-निवेदनकी पूर्णताको बहु प्रयाससे व्यक्त नहीं किया। उसने अपना सारा बहुमूल्य सुगन्ध-तैल ईसाके चरणोंमें उँड़ेल दिया। सब कह उठे, 'यह अन्यान्य अपव्यय है।' ईसाने कहा, 'नहीं, नहीं, इसे रोको मत।' यह सृष्टि ही क्या अपव्यय नहीं है? गीतोंसे किसको क्या लाभ होता है? चित्र-कलासे क्या रोटी-कपड़ेकी कमी दूर होती है? किन्तु, रस-सृष्टिके क्षेत्रमें मनुष्य अपनी परिपूर्णताको उत्सर्ग करके ही पूर्णताका ऐश्वर्य प्राप्त करता है। यह ऐश्वर्य केवल उसके साहित्य और ललितकलामें ही नहीं किन्तु उसके आत्म-विसर्जनकी लीलाभूमि समाजमें भी नाना सृष्टियोंमें प्रकट होता है। उस सृष्टिका मूल्य जीवन-यात्राकी उपयोगितामें नहीं किन्तु मानवात्माके पूर्ण स्वरूपमें है। वह अहैतुक है, अपनेमें आप ही पूर्ण है। ईसाने मेरीके चरम आत्म-निवेदनके सहज रूपको देखा, उसमें उन्होंने अपनी अन्तरात्माकी पूर्णताको ही बाहर देखा। मेरी मानो उनकी आत्माकी सृष्टिके रूपमें ही उनके सामने अपरूप माधुर्यमें प्रकट हुई। इसी तरह मनुष्य अपने सृष्टिकार्यमें अपनी पूर्णताको देखना चाहता है, कृच्छ्र साधनमें नहीं, उपकरण-संग्रहमें नहीं। अपनी आत्माके आनन्दसे उद्भावित करना है उसे स्वर्गलोक, लखपतीका कोषागार नहीं, पृथ्वीपतिका जयस्तम्भ नहीं। उसे कोई लोभ न भुलाये, उसे दम्भ अभिभूत न करे; क्योंकि वह संग्रहकर्ता नहीं, निर्माणकर्ता नहीं, वह है सृष्टिकर्ता।

कलकत्ता-विश्वविद्यालय-व्याख्यानमाला
फाल्गुण १९८०

साहित्यमें नवीनता

सभी देशके साहित्यका प्रधान काम है अपने श्रोताओंका आसन बड़ा या विस्तृत करते रहना, जहाँसे कि साहित्यकी माँग आती है। ऐसा नहीं होनेसे लिखनेवालोंकी शक्ति संकुचित हो जाती है। जो साहित्य पुराना है उसने अनेक काल और अनेक मनुष्योंके कानोंमें बातें की हैं। उनकी बातें भी 'रोज लाना, रोज खाना'-जैसी हलके वजनकी नहीं। पुराना साहित्य सुनने-योग्य कान तैयार कर लेता है। जिस समाजमें अनेक पाठकोंके ऐसे कान तैयार हो गये हैं उस समाजमें बड़ी-बड़ी बातें लिखनेकी शक्ति लेखकोंमें स्वतः प्रकट होती देखी गई है, केवल खुदरा मालका कारोबार वहाँ नहीं चलता। उस समाजके बड़े-बड़े महाजनोंका व्यवसाय आधे-आधपर नहीं, पूरेपर चलता है। उन्हें आधाका व्यवसायी नहीं कहा जा सकता, लिहाजा उन्हें जहाजकी खबर भी होती है।

भारतमें शुरू-शुरूमें जब अंग्रेजी शिक्षाका प्रचार हुआ तब ऐसे साहित्यसे हमलोगोंकी जान-पहचान हुई जिसका स्थान विपुल देश और निरवधिकाल का था। उस साहित्यका कहनेका विषय चाहे कितना ही विदेशी क्यों न हो, किन्तु उसका आदर्श सर्वकालीन और सर्वजनीन है। होमरके महाकाव्यकी कथा-वस्तु यद्यपि ग्रीक है, किन्तु उसमें जो काव्य-रचनाका आदर्श है वह सार्वभौमिक होनेसे साहित्यप्रेमी भारतीयोंको भी उस ग्रीक-काव्यसे रस मिलता है। ऐपेल फल (सेव) हमारे देशके बहुतोंके लिए अपरिचित है, वह सर्वथा विदेशी ही है, किन्तु उसमें जो फलत्व है उसको क्षणमें आदरके साथ अपना लेनेमें हमारी अत्यन्त स्वदेशी जीभको भी कोई बाधा नहीं होती। शरत् बाबूकी कहानी बंगालियोंकी कहानी है, किन्तु, उनका कहानी कहना एकान्त रूपसे बंगालियोंका नहीं है; इसीलिए उनके कथा-साहित्यके जगन्नाथ-क्षेत्रमें जाति-विचारकी बात नहीं उठ सकती। उनका कहानी कहनेका सर्वजनीन आदर्श ही विस्तारके क्षेत्रमें सब लोगोंको बुला लाता है। उस आदर्शके छोटा होते ही निमन्त्रण भी छोटा हो जाता है: तब फिर वह भोज पारिवारिक हो

सकता है, जाति-भोज हो सकता है, किन्तु वह उस साहित्य-तीर्थका महाभोज नहीं हो सकता, जिस तीर्थमें सब देशके यात्री आकर मिलते हैं।

किन्तु, कानोंके पास जो लोग सदा भीड़ लगाये रहते हैं, जो सबसे ज्यादा तीखे गलेसे फरमाइश पेश किया करते हैं, उनकी पत्तल परोसनेका भार लेनेसे लेखकोंका ठगाया जाना अनिवार्य है। वे जोर-जोरसे गालियाँ ही क्यों न देते रहें, उन्हें टालनेकी ताकत लेखकोंके मनमें होनी ही चाहिए। जिनका चित्त अत्यन्त क्षणकाल-विहारी है, जिनकी मौजूदा गरज अत्यन्त उग्र है, असलमें उन्हींकी तरफसे शोरगुल सबसे ज्यादा सुननेमें जाता है। रातमें सड़ककी जो रोशनी लैम्प-पोस्टके काँचमेंसे छिटकी पड़ती है, वह सवेरेके सूर्यलोकसे कहीं ज्यादा दृष्टिमें पड़ती है। असलमें ढिठाईको प्रबलताका प्रमाण मान लेनेमें विपत्ति है।

जिस लेखककी अन्तरात्मामें ही विश्व-श्रोताका आसन है वही बाहरी श्रोताओंसे नकद-बिदाई मिलनेके लोभको सम्हाल सकता है। अपने भीतरका महामौन ही यदि उसे वरण-माला देता है तब कोई चिन्ता नहीं रह जाती। तब वह बाहरके नित्य-मुखरको दूर ही से नमस्कार करके निश्चित निरापद चला जा सकता है।

अंग्रेजी शिक्षाके प्रारम्भमें ही हमारा परिचय जिस साहित्यसे हुआ उसमें विश्व-साहित्यका आदर्श था, यह बात माननी ही पड़ेगी। किन्तु फिर भी, यह बात नहीं कही जा सकती कि यूरोपमें हमेशा वह आदर्श उज्ज्वल ही रहा है। वहाँ भी कभी-कभी जब गरजकी फरमाइशोंका तकाजा हो उठता है तब साहित्यमें खर्वताके दिन आ जाते हैं। तब वहाँ भी अर्थशास्त्रके अध्यापक, बायोलॉजीके लेक्चरर, स्वर्णपदक-प्राप्त समाज-विज्ञानी साहित्यके आँगनमें भीड़ लगाकर धरना दे बैठते हैं।

किसी भी देशके साहित्यके दिन सदा एकसे नहीं चलते। दोपहरीके बीतते ही दिन ढलता रहता है। प्रकाश जब क्षीण हो आता है तभी अद्‌भुत का प्रादुर्भाव होता है। अँधेरेका समय विकृतिका होता है। उस दशामें अली-गलीमें हमें विकृत रूपोंके ही दर्शन होते हैं और उसकी कुत्सित कल्पना को ही हम प्रधान मान लेते हैं।

वस्तुतः साहित्यके सायाह्नमें कल्पना क्लान्त होने लगती है, इसलिए उसे विकृति धर दबाती है। क्योंकि ऐसेमें सहज-स्वाभाविकसे उसका गुजारा नहीं चलता। जिस अक्लिष्ट शक्तिके होनेसे आनन्द-सम्भोग सम्भव होता है उस शक्तिके खर्व हो जानेसे उत्तेजनाकी आवश्यकता पड़ती है। उस समय पागलपन ही पौरुष समझा जाता है। नशेमें मत्त व्यक्ति प्रकृतिस्थ व्यक्तिकी अवज्ञा करता है; उसके संयमको या तो वह भ्रम समझता है या उसकी दुर्बलता।

महत् साहित्यका एक गुण है अपूर्वता, यानी मौलिकता। साहित्य जब अक्लान्त शक्तिमान रहता है तब वह चिरन्तनको ही नये रूपमें प्रकाशित कर सकता है। यही उसका काम है; इसीका नाम है मौलिकता। और जब वह अद्भुतके लिए गला फाड़कर चिल्लाता है, आँख-मुँह लाल कर लेता है, और मौलिक होनेका प्राणान्त प्रयास करता है, तभी समझा जा सकता है कि वह अन्तिम दशामें पहुँच चुका है। जहाँ पानी निबट जाता है वहाँ पङ्क ही आधार होता है। ऐसे लोग कहते हैं, 'साहित्य-धारामें नाव खेना एक निहायत पुराना रिवाज है; आधुनिक उद्भावना है पङ्कका मतवालापन। इसमें मल्लाहगिरीकी जरूरत नहीं, यह डूबनेकी यथार्थता है। भाषाको तोड़-मरोड़कर अर्थका अनर्थ करके, भावोंको स्थान-कुस्थानमें कसरत कराकर, पाठकोंके मनको कदम-कदमपर धक्का देकर आश्चर्यचकित कर देना ही साहित्यका चरम-उत्कर्ष है।' है चरम ही, इसमें कोई सन्देह नहीं। इस चरमका उदाहरण युरोपीय साहित्यका 'डाडाइज्म' है। इसका एकमात्र कारण यह है कि जब आलाप करनेकी सहज शक्ति जाती रहती है तब विकारकी दशामें प्रलाप बकनेकी शक्ति बढ़ जाती है। बाहरसे देखनेमें प्रलापकी शक्ति आलापसे कहीं अधिक होती है, यह बात माननी ही पड़ेगी। किन्तु, उसपर शंका करनेके बजाय जब लोग गर्व करने लगते हैं तो ऐसा लगता है कि अब सर्वनाशमें विलम्ब नहीं।

युरोपके साहित्य और चित्रकलामें यह जो विह्वलता क्षण-क्षणमें और स्थान-स्थानपर वीभत्स हो उठी है, सम्भव है एक दिन वह दूर हो जायगी, जैसे बलिष्ठ आदमी खतरनाक रोगसे निकल आते हैं। डर तो यह है कि

जब यह छूत किसी कमजोरके लग जायगी तब उसकी और-और दुर्गतियोंके साथ यह और-एक उपद्रवका बोझ दुस्सह हो उठेगा।

चिन्ताका विशेष कारण यह है कि हमारी शास्त्र-माननेवाली धात है। ऐसे लोग जब आचारका पालन करते हैं तब गुरुका मुँह जोहते हैं, और जब उसे तोड़ते हैं तब भी गुरुका ही मुँह ताकते हैं। रूस या और-किसी पश्चिम दिगन्तमें गुरु यदि नये वेशमें दिखाई देते हैं, चाहे लाल टोपी पहने या अन्य किसी उग्र पोशाकमें, तो, हमारे यहाँके स्कूल-मास्टर अभिभूत हो जाते हैं। जिस बहूकी चमड़ी सासके शासनमें सख्त हो जाती है वह खुद सास बनकर बहूपर शासन करके जैसा आनन्द पाती है, ये लोग भी उसी तरह देशके जिन निरीह लोगोंको सदा स्कूलबॉय समझनेके आदी रहे हैं उनपर रूसी हेड-मास्टरोंका शासन-विधान लागू करके पदोन्नतिकी कामना करते हैं। ऐसे हेड-मास्टरोंकी गद्‌गद भाषाका अर्थ क्या है और उसका कारण क्या है, यह विचार करनेका अभ्यास नहीं, क्योंकि आधुनिक कलाका आप्त-वाक्य वही है।

मैं मानता हूँ कि अपने देशके नवीन लेखकोंसे गाढ़ा परिचय करनेका यथेष्ट अवसर मुझे नहीं मिला। कभी-कभी संक्षिप्त अवसर मिला है, उसमें उनकी बलिष्ठ कल्पना और भाषाके विषयमें साहसिक अध्यवसाय देखकर मुझे विस्मित होना पड़ा है। जो सच्चे वीर होते हैं उन्हें सरकसका खिलाड़ी बननेमें लज्जा मालूम होती है। पौरुषमें शक्तिका आडम्बर नहीं होता, उसकी मर्यादा होती है; उसमें साहस होता है, बहादुरी नहीं। अनेक नवीन कवियोंकी रचनामें इस सबलताके लक्षण दिखाई दे रहे हैं। मैं समझता हूँ कि बंगला साहित्यमें एक साहसिक सृष्टि-उत्साहका युग आ रहा है। इस नवीन सम्प्रदायका अभिनन्दन करनेमें मैं कभी कुण्ठित नहीं हुआ।

किन्तु शक्तिकी नई स्फूर्तिके समय ही शक्तिहीनोंकी कृत्रिमता साहित्यको गन्दा कर देती है। कुशल तैराक जहाँ धाराको अनायास ही पार कर जाते हैं, अनाड़ियोंका दल वहाँ उद्दाम भङ्गिमामें नीचेके कीचड़को आलोड़ित करके पानीको गँदला करते रहते हैं। ऐसे अकुशल लोग ही कृत्रिमताके द्वारा अपने अभावकी पूर्तिके लिए प्राणान्त चेष्टा किया करते हैं, वे रूढ़ताको कहते हैं शौर्य,

और निर्लज्जताको कहते हैं पौरुष। बँधी-हुई गतपर चलनेके सिवा उनके चलनेका और-कोई उपाय न होनेसे ही वे आधुनिक युगकी नवीनताके बँधे बोल संग्रह कर रखते हैं। विलायतकी पाकशालामें जब भारतीय दालकी नकल की जाती है, तो उसके लिए पहलेसे सीसीमें बँधे नियम-माफिक 'करी-पावडर' बना रखा रहता है, उसमें इसे-उसे मिला देनेसे ही पाँच मिनटमें दाल तैयार हो जाती है। मिर्चकी मात्रा ज्यादा होनेसे उसकी दीनताको समझना कठिन हो जाता है। आधुनिक साहित्यमें ठीक वैसे ही सीसीमें भरे बँधे-बोल हैं। अपटु लेखकोंकी पाकशालामें वही है 'रियलिटीका करी-पावडर'। उनमेंसे एक तो है दारिद्र्यका आस्फालन, और दूसरा है लालसाका असंयम।

और-और वेदनाओंकी भाँति साहित्यमें दारिद्र्य-वेदनाका भी यथेष्ट स्थान है। किन्तु उसका उपयोग शैलीका एक अङ्ग हो उठा है, जब-तब उस प्रयासमें लेखककी शक्तिकी दरिद्रता ही प्रकट होती रहती है। 'हम ही रियलिटीके साथ कारोबार करते हैं, और हम ही जानते हैं कि जीवन किसे कहते हैं।'—इस तरहके दम्भका यह एक आसान और चालू नुस्खा बन गया है। और देखा यह जाता है कि इनमेंसे बहुतोंने अपनी जीवन-यात्रामें 'दरिद्रनारायण'के भोगकी व्यवस्था कुछ भी नहीं रखी है, मजेमें कमाते हैं, आरामसे रहते हैं। देशकी गरीबीको ये लोग नये साहित्यमें केवल नवीनताकी झाँस या उग्रता बढ़ानेके लिए ही सदा चटपटे मसालेके तौरपर काममें लाते हैं। इस भावुकताके 'करी-पावडर' के मेलसे एक बनावटी और सस्ते साहित्यकी सृष्टि हो गई है। इस हिकमतसे बिना प्रतिभाके और कम शक्तिसे ही वाहवाही मिल जाती है। इसीलिए अपटु लेखकोंके लिए यह एक बहुत बड़ा प्रलोभन है और साथ ही अविचारक पाठकोंके लिए साहित्यिक अपथ्य भी।

सत्यके नाते ऐसी बात नहीं कही जा सकती कि 'साहित्यमें इसके पहले लालसाको स्थान नहीं मिला या आगे नहीं मिलेगा'। किन्तु यह चीज साहित्यके लिए ख़तरनाक है। कहना फजूल है कि सामाजिक विपदकी चर्चा मैं नहीं करता। इस विपत्तिका कारण यह है कि यह बड़ी सस्ती चीज है और धूलमें लोटनेके समान ही सहज-साध्य है ; अर्थात्, जिसे धूलमें लोटनेमें संकोच नहीं उसके लिए बिलकुल ही सहज है। पाठकोंके मनमें इस आदिम प्रवृत्तिकी

उत्तेजनाका संचार सहज ही किया जा सकता है। इसीलिए, पाठक-समाजमें यदि इस प्रकारकी चर्चा हो कि 'साहित्यमें लालसाको मथ देना ही वर्तमान युगकी एक बड़ी उस्तादी है, तो इसके लिए विशेष शक्तिशाली लेखकोंकी आवश्यकता नहीं होगी,— जिन्हें साहस दिखाकर बहादुरी दिखानेका नशा चढ़ जायगा वे इससे सहज ही में मतवाले हो उठेंगे। क्या समाजमें और क्या साहित्यमें, साहस बेशक एक अच्छी चीज है। किन्तु, इस साहसका भी श्रेणी और मूल्य-विचार है। किसी भी बातकी परवा नहीं करनेका जो साहस है उससे किसी-एक बातकी परवा करनेका साहस कहीं बड़ी चीज है। मनुष्यके शरीर-सम्पर्कित जो संस्कार हैं वे जीव-सृष्टिके इतिहासमें बहुत पुराने हैं, प्रथम अध्यायसे ही उसका आरम्भ है; उन्हें छुआ नहीं कि वे झनझना उठते हैं। 'मेघनाद-वध'-काव्यमें नरकके वर्णनमें माइकेल मधुसूदनने एक जगह लिखा है, 'नारकी कै करके फिर उसीको खा रहा है।' इस वर्णन-द्वारा पाठकके मनमें घृणा पैदा करनेके लिए कवित्व-शक्तिकी आवश्यकता नहीं। किन्तु, हमलोगोंकी मानसिकतामें घृण्यताकी जो जड़ है उसे जगानेमें कल्पना-शक्तिकी जरूरत पड़ती है। मैं यह नहीं कहूँगा कि घृणा-वृत्तिके प्रकाशको साहित्यमें स्थान ही नहीं मिलना चाहिए; किन्तु, वह यदि निरी दैहिक और सस्ती चीज हो, तो उसकी अवज्ञाके अभ्यासको नष्ट न करना ही अच्छा है।

'असीममें तुच्छ और महत्का, सुन्दर और असुन्दरका, और कंकड़ और कमलका कोई भेद नहीं है, तो फिर साहित्यमें ही यह भेद क्यों रहे?' ऐसा एक प्रश्न परम्परासे सुननेमें आया है। पर, ऐसी बातोंका जवाब देना भी क्या आवश्यक है? जो तुरीय-अवस्थामें पहुँच चुके हैं ऐसोंके लिए न तो साहित्य है और न कला। उनकी बात छोड़ दी जा सकती है। किन्तु, किसी चीजके साथ अन्य किसी चीजका मूल्यभेद यदि साहित्यमें भी न रहे, तो संसारमें सभी रचनाओंका समान मूल्य हो उठेगा; क्योंकि असीममें निस्सन्देह-रूपसे उन सबकी एक ही अवस्था है, खण्डित देश-काल-पात्रमें ही उनका मूल्य-भेद है। आम और किंपाक (विषफल) असीममें एकसे हैं, किन्तु हम खाना चाहें तो पता चल जायगा कि दोनोंमें कैसा अन्तर है! इसलिए महान् तत्त्वज्ञानी अध्यापकको भी जब हम भोजमें निमन्त्रित करते हैं, तो, आम घट जानेपर

उनकी पत्तलमें किंपाक नहीं परोस सकते। तत्त्वज्ञानकी दुहाई देकर यदि विषफल दे सकना सम्भव होता और देनेसे यदि वाहवाही मिलती तो बहुत सस्तेमें ब्राह्मण-भोजन कराया जा सकता था। किन्तु पुण्य खताते वक्त चित्रगुप्त निश्चय ही पातञ्जल-दर्शनके अनुसार हिसाब नहीं करते। पुण्य प्राप्तिके लिए एक शक्तिकी आवश्यकता होती है। साहित्यमें भी पुण्यके लिए एक खाता खुला-हुआ है।

अच्छी तरह शिक्षा अर्जन करनेमें मनुष्यको जो नियमित प्रयास करना पड़ता है उसमें मस्तिष्क और चरित्रकी शक्तिकी आवश्यकता होती है। समाजमें इस विद्या-शिक्षाका एक विशेष आदर है, इसीलिए आम तौरसे इतने छात्र इस शक्तिको जाग्रत किये रहते हैं। यदि किसी कारणसे किसी दिन यह समाज ही कह बैठे कि शिक्षाका परित्याग ही आदयणीय है, तो अधिकांश छात्र बहुत ही आसानीसे साहस दिखानेका अहङ्कार कर सकते हैं। ऐसी सस्ती वीरता दिखानेका मौका साधारण लोगोंको देनेका अर्थ है उनकी कर्तव्य-बुद्धिको ही दुर्बल बनाना। वीर-साध्य साधना बहुत दिनोंसे बहुतसे लोग ही करते आये हैं, इसीलिए उसे साधारण और पुराने जमानेका समझकर उसकी उपेक्षा करनेकी स्पर्द्धाको अगर एक बार प्रश्रय मिल जाय, तो बड़ी आसानीसे वह संक्रामित हो सकती है, खासकर जो शक्तिहीन हैं उनमें। साहित्यमें यदि ऐसे कृत्रिम दुःसाहसकी हवा चलने लगे, तो अनेक अपटु लेखकोंकी लेखनी मुखर हो उठेगी, ऐसी हमारी आशंका है।

मैं देखता रहा हूँ, कोई-कोई यह कहते हैं कि 'इन तरुण लेखकोंमें नैतिक चित्तविकार होनेसे ही ऐसे साहित्यकी सृष्टि सहसा ऐसी तेजीसे बढ़ गई है।' मैं स्वयं इसपर विश्वास नहीं करता। इनमेंसे बहुतोंने साहित्यमें सहजिया साधन ग्रहण कर लिया है, क्योंकि वही सहज है। साथ ही, दुस्साहसिकके नामपर इससे वाहवाही भी मिल जाती है, जो नवीनोंके लिए कम प्रलोभनका कारण नहीं। उनका कहना है, 'हम कुछ भी नहीं मानते, यह तो तरुणोंका धर्म है।' क्योंकि अधिकांश क्षेत्रमें नहीं माननेमें एक शक्ति चाहिए और उस शक्तिका अभिमान तरुणोंके लिए स्वाभाविक है। इस अभिमानके आवेगमें उनसे भूलें भी बन जाती हैं; किन्तु, उन भूलोंके बावजूद, मैं तरुणोंकी

इस स्पर्धाकी श्रद्धा ही करता हूँ। किन्तु, जहाँ नहीं मानना ही सहज पन्थ है वहाँ अशक्तोंका सस्ता अहङ्कार तरुणोंके लिए ही ज्यादा अशोभनीय है। यदि यह कहा जाय कि 'भाषाको हम नहीं मानते' तो आसानीसे कविता लिखी जा सकती है। शारीरिक उत्तेजनाको यदि काव्यकी प्रधान खुराक बनानेमें खटका न हो तो बहुत थोड़े ही खर्चमें काम चलाया जा सकता है। किन्तु यही साहित्यिक-कापुरुषता है।

प्लान्स्युज जहाज
२३ अगस्त १९२७

—

साहित्य-विचार

साहित्यका विषय व्यक्तिगत है, श्रेणीगत नहीं। यहाँ मैं 'व्यक्ति'-शब्दके धातुगत अर्थपर ही जोर देना चाहता हूँ। स्वकीय विशेषताओंमें जो व्यक्त हुआ है उसीको व्यक्ति कहते हैं। यह व्यक्त सर्वथा स्वतन्त्र है। विश्वजगत्में उसके सम्पूर्ण अनुरूप दूसरा कोई नहीं है।

व्यक्ति-रूपकी यह व्यक्तता सबकी समान नहीं होती ; कोई सुस्पष्ट है तो कोई अस्पष्ट। कमसे कम उसके लिए जो उपलब्धि करता है। साहित्यका यह 'व्यक्ति' केवल मनुष्य नहीं होता ; विश्वकी जो भी वस्तु साहित्यमें सुस्पष्ट है वही 'व्यक्ति' है। जीव-जन्तु, पेड़-पौधे, नदी, पर्वत, समुद्र, अच्छी चीजें, बुरी चीजें, वस्तुकी चीजें, भावकी चीजें सभी-कुछ व्यक्ति हैं। स्वयं अपनी ऐकान्तिकतासे यदि वे नहीं व्यक्त हुईं तो साहित्यमें वे लज्जित हैं।

जिस गुणसे ये चीजें (जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है) साहित्यमें उतने परिमाणमें व्यक्त हो उठती हैं जितनेसे हमारा चित्त उन्हें स्वीकार करनेको विवश हो जाय, ऐसा गुण दुर्लभ है। किन्तु यह गुण साहित्य-रचयितामें होना ही चाहिए। यह न तो रजोगुण है, न तमोगुण। यह कल्पना-शक्तिका और रचना-शक्तिका गुण है।

जगत्के अगणित मनुष्योंको और असंख्य वस्तुओंको हम सम्पूर्णतः नहीं देख पाते। प्रयोजनके हिसाबसे या सांसारिक प्रभावकी दृष्टिसे ये पुलिस-इन्स्पेक्टर या जिला-मजिस्ट्रेटके समान ही अत्यन्त परिदृष्ट और परिस्पृष्ट हो सकते हैं, किन्तु व्यक्तिके हिसाबसे वे हजारों पुलिस-इन्स्पेक्टर या जिला-मजिस्ट्रेटोंके समान ही अकिंचित्कर हैं; यहाँ तक कि उनमेंसे बहुतोंसे तुच्छ, जिनपर वे कर्तृत्व करते हैं। अतएव, वे अचिरकालीन वर्तमान-अवस्थाके बाहर मनुष्यके अन्तरङ्ग-रूपमें प्रकाशमान् नहीं हैं।

किन्तु, साहित्य-रचयिता अपनी सृष्टि-शक्तिके गुणसे उनको भी (जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है) चिरकालीन-रूपमें व्यक्त कर सकता है। तब वे किसी साम्राज्यके दण्डविधाता-रूपमें या किसी वर्ग या पदके प्रतिनिधिके रूपमें नहीं किन्तु केवल अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्वके मूल्यसे मूल्यवान् होते हैं। धनी मानी या ज्ञानी होनेसे नहीं, सत्व रज या तमोगुणसे गुणी होनेसे भी नहीं, किन्तु वे जो स्पष्ट व्यक्त हो सके हैं इसीलिए समादृत होते हैं। इस व्यक्त-रूपके साहित्यिक मूल्यका निर्णय या व्याख्या करना आसान नहीं। इसीलिए साहित्यका विचार करते समय अधिकांश लोग व्यक्ति-परिचयका दुरूह कर्तव्य न निबाहकर वर्गका परिचय दिया करते हैं। इस सहज पन्थकी साधारणतः हमारे देशके पाठक अश्रद्धा नहीं करते। इसका प्रधान कारण शायद यही है कि हमारा देश जाति-विश्वासी देश है। हमारी दृष्टि मनुष्यके परिचयसे जातिके परिचयपर ज्यादा पड़ती है। हमलोग 'बड़ा आदमी' उसे कहते हैं जिसका पद बड़ा है या जिसके पास रुपया ज्यादा है। हम जाति और वर्गका दबाव एक लम्बे समयसे पीठपर सहते आये हैं, हमारे देशमें व्यक्तिगत मनुष्य पंक्तिपूजक समाजकी ताड़नासे सदा संकुचित रहा है। हमारे देशमें सर्वत्र ही बँधी रीतिका बन्धन है। इसी कारण हमारे देशमें कभी जो साधु-साहित्य प्रचलित था उसमें व्यक्तिका वर्णन शिष्ट-साहित्य-सम्मत था, श्रेणीगत था। तब सरोवर था 'कुमुद-कह्लार-शोभित', यूथी-जाती-मल्लिका-मालती-विकसित थी वसन्तऋतु। तबकी सभी सुन्दरियोंका गमन था गजेन्द्र-गमन, उनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग विम्ब-दाड़िम-सुमेरुकी बँधी गतमें बँधे होते थे, वर्गके कुहरेमें व्यक्ति तब अदृश्य था। हमारी वह धुँधली दृष्टिकी

मनोवृत्ति अब जाती रही, ऐसा नहीं कहा जा सकता। साहित्य-रचना और अनुभूतिकी सबसे बड़ी शत्रु यह धुँधली दृष्टि ही है। क्योंकि साहित्यमें रस-रूपकी सृष्टि है। सृष्टि कोई भी हो, उसकी मूल बात है प्रकाश। इसीलिए हमारे देशके साहित्य-विचारमें व्यक्तिके परिचयको छोड़कर वर्गके परिचयकी तरफ ही ज्यादा झुकाव देखनेमें आता है।

साहित्यमें 'अच्छा-लगना' और 'बुरा-लगना' ही चरम बात है। और विज्ञानमें सत्य-मिथ्याका विचार ही अन्तिम विचार है। यही कारण है कि विचारकके व्यक्तिगत संस्कारके ऊपर वैज्ञानिककी चरम अपील होती है प्रमाणमें। किन्तु 'अच्छा-बुरा लगना' रुचिपर निर्भर करता है, उसपर और कोई अपील अयोग्यतम व्यक्ति भी खारिज कर सकता है। इसीलिए संसारमें सबसे अरक्षित और असहाय जीव है साहित्य-रचयिता। कोमल-स्वभाव हरिण भागकर बच जाता है, किन्तु कवि छापेके अक्षरोंके काले जालमें पकड़ा जाता है। इसपर पश्चात्ताप करनेसे कोई लाभ नहीं, अपने अनिवार्य कर्मफलके आगे कोई जोर नहीं चल सकता।

जब रुचिकी मार पड़े, तो चुपचाप उसे सह लेना ही अच्छा है; क्योंकि साहित्य-रचयिताके भाग्यचक्रमें ही रुचिके कुग्रह और सुग्रहका चिर-निर्दिष्ट स्थान है। किन्तु बाहरसे जब उल्कावृष्टि होती है, सम्मार्जनी हाथमें लिये जब धूमकेतु आ-धमकता है और ग्रह-उपग्रहोंका ऊधम शुरू हो जाता है, तब हम सिर पीट-पीटकर कहते हैं, 'यह तो मारकी ऊपरी-आमदनी है।' भारतीय साहित्यके अन्तःपुरमें बाहरसे वर्ग-विचारक (द्रव्य-परीक्षक और मूल्य-निर्धारक) आ घुसे हैं; उनकी राह रोकनेवाले कोई है ही नहीं। बड़े दुःखके साथ किसी बाउल कविने कहा है, 'फूलोंके बागमें जौहरी घुस आया है, वह कमलके फूलको कसौटीपर कसता फिर रहा है, फूलोंको लज्जित कर रहा है।'

इस बातको हम सहज ही भूल जाते हैं कि जातिका निर्णय विज्ञानमें है, जातिका विवरण इतिहासमें है, किन्तु साहित्यमें जाति-विचार नहीं, वहाँ और सब-कुछको भूलकर व्यक्तिकी प्रधानताको मानना ही होगा। अमुक कुलीन ब्राह्मण है, सिर्फ इत्ते-से परिचयसे अतिअयोग्य व्यक्ति भी घर-घरसे वरमाला लूट ला सकता है; किन्तु, इससे व्यक्तिके लिहाजसे उसकी योग्यता प्रमाणित

नहीं होती। कोई कुलीन है या नहीं, इस बातका पता तो उसकी वंशावलीसे पल-भरमें लग सकता है। किन्तु, व्यक्तिगत योग्यताका निर्णय करनेके लिए जैसा समझदार चाहिए वैसा व्यक्ति ढूँढ़े मिलना मुश्किल है; इसीलिए समाज साधारणतः श्रेणीके ही साँचेसे मनुष्यको विभक्त करता है। क्योंकि जाति-कुलको और धनको मर्यादा देना सहज होता है। इसी विचारके कारण व्यक्तिके प्रति समाज सदा ही अविचार करता है, वर्गकी परिधिके बाहर योग्यसे योग्य व्यक्ति भी अयोग्यतमोंकी पंक्तिमें सबसे पीछे पड़ जाता है। किन्तु, साहित्य जगन्नाथका क्षेत्र है। जातिके नामपर व्यक्तिका अपमान यहाँ नहीं चल सकता। यहाँ तक कि इसमें वर्णसंकरता भी दोष नहीं, महाभारतके समान ही उदारता है। कृष्णद्वैपायनके जन्म-इतिहासको लेकर कोई उनका सम्मान नहीं छीनता; वे अपनी महिमासे ही महीयान हैं। अथच हमारे देशमें देवमन्दिर-प्रवेशमें भी जाति-विचारको जैसे कोई नास्तिकता नहीं समझता वैसे ही साहित्य-सरस्वती-मन्दिरके पण्डे भी द्वारपर कुलका विचार करनेमें संकोच नहीं करते। शायद वे कह बैठते हों कि 'इस रचनाकी रीति या स्वभाव शुद्ध भारतीय नहीं है, इसमें यवन-स्पर्शका दोष है।' देवी भारती स्वयं ऐसे मेलके बन्धनको नहीं मानतीं, किन्तु पण्डे इसीपर तर्कका तूफान उठाते हैं। चीनी चित्र-विश्लेषणसे यह प्रमाणित हो सकता है कि उसमें किसी अंशमें भारतीय बौद्ध प्रभाव है; किन्तु यह शुद्ध इतिहासकी बात है, सारस्वत-विचारकी बात नहीं। उस चित्रके व्यक्तित्वको देखो, यदि उसकी रूप-रचनामें कोई त्रुटि न हो, तो वहीं उसका ऐतिहासिक कलङ्क दूर गया। मनुष्यके मनमें मनुष्यका प्रभाव चारों ओरसे आता है। यदि वह प्रभाव अयोग्य न हो, तो उसे स्वीकार या ग्रहण करनेकी क्षमता न होना ही लज्जाकी बात है, उससे चित्तकी निर्जीवता प्रमाणित होती है। वर्षाके बादल नील नदीके तटसे बनकर आते हैं। किन्तु, यथासमय वह होती भारतकी ही वर्षा है। उससे भारतका मयूर यदि नाच उठे, तो, किसी छुआछूत माननेवाले स्वादेशिकको उसकी भर्त्सना नहीं करनी चाहिए; यदि वह नहीं नाचता तो समझ लेते कि वह मर गया है। ऐसी मरुभूमि भी है जिसने तिरस्कार करके अपनी सीमासे उस मेघको निकाल बाहर किया है; वह मरुभूमि अपनी विशुद्ध

शुचिता लिये-हुए बिलकुल शुभ्र बनी रहे। उसे उसके विधाताने अभिशाप दे रखा है कि 'कभी उसमें प्राणका संचार न हो।' बंगालमें ही ऐसी बातं सुननेमें आई है कि दाशुरायकी पाँचाली श्रेष्ठ है, क्योंकि विशुद्ध स्वदेशी है।

यह अन्ध-अभिमानकी बात है। ऐसे ही अभिमानसे एक दिन राधाने दूतीसे कहा था, 'अब नहिं देखूँगी मैं कारे बादर।' अवस्था-दोषसे मनके भावोंकी ऐसी विकृति होती है, यह माना जा सकता है। यह है खण्डित नारीकी मुँहकी बात, मनकी बात नहीं। किन्तु, जब तत्त्वज्ञानी यह कहते हैं 'सात्विकता तो है भारतीयत्व, और राजसिकता है यूरोपियत्व', और इसी आधारपर वे साहित्यकी खानातलाशी लेते हैं, पंक्तियाँ चुन-चुनकर राजसिकता को प्रमाणित करते-हुए साहित्यको अपांक्तेय कहते हैं, किसीको जातिमें रखते तो किसीको जातिच्युत करते हैं, तब नितान्त हताश होना पड़ता है।

किसी समय जब भारतीय प्रभाव प्राणपूर्ण था तब मध्य और पूर्व-एशिया हमारे निकट-सम्पर्कमें आकर देखते-देखते शिल्प-संपदासे आश्चर्यजनक समृद्ध हो गया था। उससे एशियामें नवजागरण आ गया था। इसमें एशियाके किसी अंशके लिए लज्जाका कोई कारण नहीं, क्योंकि जिस किसी दानमें शाश्वत सत्य है उसे जो भी कोई यथार्थतासे स्वीकार कर सकता है वह दान उसका अपना हो जाता है। अनुकरण ही चोरी है, स्वीकरण चोरी नहीं। मनुष्यकी बड़ीसे बड़ी सभ्यता स्वीकरण-शक्तिके प्रभावसे ही पूर्ण माहात्म्य प्राप्त कर सकी है।

वर्तमान-युगमें युरोप सर्वप्रकारकी विद्या और कलामें महान् है। उसका प्रभाव चारों ओर विभिन्न रूपोंमें विकीर्ण हुआ है। उस प्रभावकी प्रेरणासे युरोपके बाहरके देशोंमें भी चित्त-जागरणके लक्षण दिखाई दिये हैं। इस जागरणकी निन्दा करना कोरी मूढ़ता है। युरोपने जिस किसी सत्यको प्रकाशित किया है उसपर मानव-मात्रका अधिकार है। किन्तु उस अधिकारको आत्म-शक्तिके द्वारा ही प्रमाणित करना होगा, उसे स्वकीय बनाकर प्राणोंसे मिला लेना होगा। हमारी स्वदेशानुभूति और हमारा साहित्य युरोपीय प्रभावसे उज्जीवित है, हमारे लिए यह गौरवकी बात है। शरच्चन्द्रकी कहानियाँ जो बैतालपचीसी, हातिमताई, गुलबकावली या कादम्बरी-वासवदत्ताके समान न होकर हुई हैं युरोपीय कथा-साहित्यके ढंगकी, इससे अभारतीयत्व या रजोगुण

प्रमाणित नहीं होता; इससे प्रमाणित होती है प्रतिभाकी प्राणवत्ता। सत्यका जो प्रभाव हवामें उड़ता फिरता है वह दूरसे आये चाहे निकटसे, उसे सबसे पहले अनुभव करता और स्वीकार करता है प्रतिभाशाली चित्त। जो प्रतिभा-हीन होते हैं वे उससे बचाव चाहते हैं, और चूँकि प्रतिभाहीनोंका दल जरा भारी होता है और उसकी निस्पन्दनता दूर होनेमें बहुत विलम्ब होता है, इस लिए प्रतिभाके भाग्यमें दीर्घकालिक दुःख भोगना बदा रहता है। इसीसे मेरी राय है कि साहित्यका विचार करते समय विदेशी प्रभाव और विदेशी प्रकृतिकी चुटकी लेते-हुए वर्णसंकरता या व्रात्यताका विवाद न उठाया जाय।

इस प्रसंगमें एक-और श्रेणी-विचारकी बात याद आ गई। याद आनेका कारण यह है कि कुछ ही दिन पहले मेरे 'योगायोग' (हिन्दीमें 'कुमुदनी') नामक उपन्यासके एक चरित्र कुमुदकी आलोचना करते-हुए किसी लेखिकाने मुझे पत्र लिखा था। उस पत्रसे यह बात सामने आई कि आजकल साहित्यमें नारीको भी एक अलग पंक्तिमें रखकर देखनेकी उत्तेजना प्रबल हो उठी है। जैसे आजकल तरुणोंका दल सहसा व्यक्तिकी सीमा लाँघकर दलपतियोंकी चाटुकारिताकी चोटसे विनामूल्य ही एक अत्यन्त उच्च और विशेष वर्गमें उत्तीर्ण हो गया है, नारियोंकी भी ठीक वही दशा है। साहित्यकी नारीमें 'नारीत्व' नामक एक श्रेणीगत साधारण गुण है या नहीं, यह तर्क साहित्य-विचारमें प्राधान्य पानेकी कोशिश कर रहा है। इसीके फलस्वरूप कुमदिनी व्यक्तिगत रूपसे सम्पूर्ण कुमुदिनी है या नहीं, यह साहित्य-संगत प्रश्न किसी-किसीकी लेखनीमें बदलकर यह रूप ले रहा है कि कुमुदिनी मानव-समाजमें नारी नामक जातिकी प्रतिनिधिका पद प्राप्त कर सकी है या नहीं, यानी उसके माध्यमसे समग्र नारी-जातिकी प्रकृतिका उत्कर्ष स्थापित किया गया है या नहीं? मानव-प्रकृतिके जो साधारण गुण हैं उनकी ओर लक्ष्य रखता है मनोविज्ञान, और व्यक्तिविशेषकी जो अनन्यसाधारण प्रकृति है उसकी ओर दृष्टि रखता है साहित्य। कहना फिजूल है कि नारीको अ-नारी अंकित करना निरा पागलपन है। वास्तवमें इसकी आलोचना ही अनावश्यक है। साहित्यमें किसी कारणसे कुमुदिनीका अगर आदर हो, तो, वह होगा कुमुद व्यक्तिगत कुमुद है इसलिए, वह नारी-जातिकी प्रतिनिधि है इसलिए नहीं।

चर्चा उठी है कि साहित्य-विचारकी विश्लेषणात्मक पद्धति श्रद्धेय है या नहीं ? इस प्रश्नका उत्तर सुननेके पहले यह विचार कर लेना जरूरी है कि विश्लेषण क्या संग्रह करनेके लिए है ? क्या आलोच्य-साहित्यके उपदानके अंश संग्रह करनेके लिए ? मैं कहूँगा, यह अत्यावश्यक नहीं है। कारण, उपादान एकत्र करनेसे सृष्टि नहीं होती। समग्र सृष्टि अपने समस्त अंशोंसे बहुत अधिक है। उसका यह आधिक्य परिमाणगत नहीं है। उसे नापा नहीं जा सकता, तौला नहीं जा सकता ; वह है रूप-रहस्य, समस्त सृष्टियोंके मूलमें प्रच्छन्न। प्रत्येक सृष्टिमें वही हुआ 'अद्वैत', बहुमें वह व्याप्त है, किन्तु 'बहु'के द्वारा उसका परिमाप नहीं हो सकता। वह स-कल है, अर्थात् उसमें समस्त अंश हैं, फिर भी वह निष्कल है, उसे अंशोंमें खण्डित करते ही वह नहीं रहता ; इसलिए साहित्यमें समग्रको समग्रदृष्टिसे ही देखना होगा। इन दिनों साइको-ऐनालिसिसका जादू बहुतोंके सिर चढ़कर बोलता है। सृष्टिमें अविश्लेष्य समग्रताका गौरव खर्व करनेका मनोभाव जाग उठा है। मानव-मनके उपकरणोंमें नाना प्रकारकी प्रवृत्तियाँ हैं,—काम क्रोध अहंकार आदि। छिन्न करके देखनेसे जो वस्तु-परिचय मिलता है, सम्मिलित रूपमें वह नहीं मिलता। चरित्रका विकास प्रवृत्तियोंके गूढ़ अस्तित्वसे नहीं होता, वह होता है सृष्टि-प्रक्रियाके अचिन्तनीय योग-साधनसे। आजकल अंशका विश्लेषण उस योगके रहस्यको लंघन करनेकी चेष्टा कर रहा है। बुद्धके चरित्रके विचित्र उपादानोंमें काम-प्रवृत्ति भी थी, उनके यौवनके इतिहाससे यह बात प्रमाणित करना सहज है। जो रहता है वह जाता नहीं। चला जाय तो उससे स्वभाव की सम्पूर्णता विनष्ट होती है। चरित्रका परिवर्तन या उत्कर्ष वर्जनसे नहीं होता, योगसे होता है। उस योगसे जो परिचय समग्रतामें प्रकाशमान है वही है बुद्धदेवका चरित्रगत सत्य। प्रच्छन्नतामेंसे विशेष उपकरणोंको खींचकर बाहर निकालनेसे उनका सत्य नहीं मिल सकता। विश्लेषणमें हीरा और अङ्गारमें प्रभेद नहीं, सृष्टिके इन्द्रजालमें है। सन्देश (छेनाकी बरफी) में कार्बन है, नाइट्रोजन है ; किन्तु इन उपकरणोंसे यदि सन्देशका चरम विचार किया जाय तो अनेक विपरीत और अस्वादिष्ट वस्तुओंके साथ उसे भी एक ही श्रेणीमें शामिल करना पड़ेगा ; किन्तु इससे सन्देशका चरम परिचय ढक जाता

है। सन्देश कार्बन और नाइट्रोजनके उपादानोंमें आ जानेपर भी, उसे सड़े मांसकी श्रेणीमें हरगिज नहीं रखा जा सकता। क्योंकि उपादानोंमें दोनों एक हैं किन्तु प्रकाशमें स्वतंत्र हैं। परन्तु, चतुर लोग कहेंगे, 'यह प्रकाश एक चातुरी है।' इसके उत्तरमें कहना ही पड़ेगा, 'यह विश्वजगत् ही चातुरी है।'

सो हो, फिर भी रस-भोगका विश्लेषण किया जा सकता है। दृष्टान्तके लिए आमको ही ले लो। जिस रूपमें आम भोग्य है उस रूपमें उद्भिद-विज्ञानके वह अतीत है। भोगके सम्बन्धमें आमकी रमणीयताकी व्याख्या करते-हुए कहा जा सकता है कि इस फलका जो गुण सबसे पहले मनको खींचता है वह है उसके प्राणोंका लावण्य,– यहाँ सन्देशसे वह श्रेष्ठ है। आममें जो वर्ण-माधुरी है वह जीव-विधाताकी प्रेरणामें आमके भीतरसे ही उद्भासित है, समग्र फलके साथ वह अविच्छेद्य एक है। आँखोंको आकर्षित करनेके लिए सन्देशमें केशरसे रंग चढ़ाया जा सकता है, किन्तु वह जड़ पदार्थोंके सहारे वर्ण-योजना है, प्राणों द्वारा वर्णोद्भावन नहीं है। इसके सिवा आममें है स्पर्शकी सुकुमारता और सौरभका सौजन्य। फिर उसके आच्छादनको हटाते ही पाई जाती है उसकी उदारता। इस तरह आमके रस-भोगको समझाकर कहनेको मैं कहूँगा, 'आमका रस-विचार'। यहाँपर स्वादेशिक आकर परिचय-पत्रमें कह सकते हैं, "आम विशुद्ध भारतीय वस्तु है, इसका प्रमाण उसके प्रचुर त्यागकी उदार सात्विकतासे मिलता है। और 'रैस्पबेरी' 'गुसबेरी' आदि विलायती हैं, क्योंकि उनके रसका हिस्सा गुठलीके हिस्सेसे ज्यादा नहीं होता। औरोंको सुख-सन्तोष देनेके बजाय उन फलोंने अपनी जरूरतको ही बड़ा माना है, अतः वे राजसिक हैं।" यह बात देशात्मबोधके अनुकूल हो सकती है; किन्तु, ऐसी अमूलक या समूलक तत्त्वालोचना रस-शास्त्रमें बिलकुल ही असङ्गत है।

संक्षेपमें मेरे कहनेका आशय यह हुआ कि 'साहित्यका विचार साहित्यकी व्याख्या है, साहित्यका विश्लेषण नहीं। यह व्याख्या प्रधानतः साहित्य-विषयके 'व्यक्ति'को लेकर होनी चाहिए, उसके जाति-कुलको लेकर नहीं। हाँ, साहित्यका ऐतिहासिक किंवा तात्त्विक-विचार हो सकता है। और, वैसे विचारमें शास्त्रीय प्रयोजन हो सकता है, किन्तु उसमें साहित्यिक प्रयोजन कतई नहीं है।

—

आधुनिक काव्य

मुझसे मॉडर्न अंग्रेज कवियोंके विषयमें कुछ लिखनेका अनुरोध किया गया है। यह काम आसान नहीं है। कारण, पत्रा देखकर मॉडर्नकी सीमाका निर्णय कौन करेगा ? इस बातका सम्बन्ध कालसे उतना नहीं जितना कि भावसे है।

नदी सामनेकी ओर सीधी चलते-चलते सहसा मोड़ ले लेती है। साहित्य भी वैसे ही सदा सीधा नहीं चलता। वह जब जैसी मोड़ लेता है तब उस मोड़को ही कहना होगा 'मॉडर्न'। अपनी भाषामें कहें तो 'आधुनिक'। यह आधुनिकता समयकी नहीं, मरजीकी होती है।

बाल्यकालमें जिस अंग्रेजी कविताके साथ मेरा परिचय हुआ, उस युगमें उसीको आधुनिक गिना जाता था। कविताने तब एक नई मोड़ ली थी, इस मोड़का आरम्भ कवि बर्न्ससे हुआ था। तब एक साथ अनेक बड़े-बड़े कवियोंके दर्शन हुए थे। जैसे वर्ड्स्वर्थ, कोलरिज, शेली और कीट्स्।

समाजमें सर्व-साधारणमें प्रचलित व्यवहार-रीतिको 'आचार' कहते हैं। किसी-किसी देशमें यह आचार व्यक्तिगत अभिरुचिके स्वातंत्र्य और वैचित्र्यको पूर्णतः दबाये रखता है। वहाँ मनुष्य हो उठता है खेलका पुतला, उसका चाल-चलन होता है त्रुटिहीन चुस्त-दुरुस्त। इस सनातन अभ्यस्त चालकी ही समाजके लोग कदर करते हैं। साहित्यपर भी कभी-कभी दीर्घकाल तक यह आचार हाबी हो जाता है। रचनामें त्रुटिहीन नीतिका चन्दन-तिलक लगाकर चलनेसे लोग उसे 'साधु' कहते हैं। कवि बर्न्सके बाद अंग्रेजी-काव्यमें जिस युगका अभ्युदय हुआ उस युगमें रीतिकी चहारदीवारी तोड़कर मनुष्यकी मरजी आ उपस्थित हुई। 'कुमुद-कह्लार-सेवित-सरोवर' है साधु-कारखानेका बना सरकारी अँधोटीके विशेष छिद्रसे दिखाई देनेवाला सरोवर। साहित्यमें जब कोई साहसी उस अँधोटीको उतार फेंकता है और बँधे-हुए बोल हटाकर पूर्ण दृष्टिसे सरोवरको देखता है तब अँधोटीके साथ-साथ वह ऐसा एक मार्ग खोल देता है जिससे सरोवर नाना दृष्टिसे नाना कल्पनाओंसे नाना प्रकार हो उठता है। फिर साधु-विचार-बुद्धि उसे कहती है, 'धिक्।'

हमलोगोंने जब अंग्रेजी-साहित्य पढ़ना शुरू किया था तब आचार-तोड़ व्यक्तिगत मरजीको ही साहित्यने स्वीकार कर लिया था। 'एडिनबरा रिव्यू' में जो गर्जन-तर्जन उठा था वह शान्त हो चुका था। जो भी हो, हमलोगोंका वह काल आधुनिकताका एक युगान्तकाल था।

उस युगके काव्यमें आधुनिकताका लक्षण था 'व्यक्तिगत मरजीकी दौड़'। वर्ड्स्वर्थने विश्व-प्रकृतिमें जिस आनन्द-सत्ताकी उपलब्धि की थी उसे उन्होंने निजी ढंगसे व्यक्त किया था। शेलीमें थी प्लैटोनिक भावुकता, और उसके साथ ही था राष्ट्रगत धर्मगत समस्त प्रकारकी स्थूल बाधाओंके प्रति विद्रोह। कीट्स्के काव्योंमें था रूप-सौन्दर्यका ध्यान और सृष्टि। उस समय काव्यकी मोड़ वाह्यिकतासे आन्तरिकताकी ओर मुड़ी थी।

कविके चित्तमें जो अनुभूति गहरी होती है वह भाषामें सुन्दर रूप लेकर अपनी नित्यताको प्रतिष्ठित करना चाहती है। प्रेम अपनेको सुसज्जित करता है; उसके अन्तरमें जो आनन्द है उसे वह सौन्दर्यके द्वारा बाहर प्रमाणित करना चाहता है। मनुष्यका एक ऐसा युग गया है जब वह अपने सम्पर्कमें आनेवाले जगत्को नानाप्रकारसे सजाता-सँवारता था। बाहरकी वह सजावट ही उसके आन्तरिक अनुरागका प्रकाश था। और जहाँ अनुराग रहता है वहाँ उपेक्षा नहीं रह सकती। उस युगमें अपने दैनन्दिन व्यवहारकी वस्तुओंको मनुष्य अपनी रुचिके आनन्दमें विचित्र बनाया करता था। अन्तरात्माकी प्रेरणाने उसकी उँगलियोंको सृष्टि-कुशल बना दिया था। उस समय देश-देश और गाँव-गाँवमें बरतन-बासन घर-द्वार शरीर आदिकी सजावटमें रूप-रंगकी विचित्रताने, मनुष्यके हृदयको बाहरी उपकरणोंने विजड़ित कर रखा था। अपनी जीवनयात्राको रसमय करनेके लिए लोगोंने न-जाने कितने अनुष्ठानोंकी सृष्टि की थी! कितने नये-नये सुर और धातु-मिट्टी लकड़ी-पत्थर सूत-ऊन रेशमपर कितनी नई-नई शिल्पकला, कोई ठीक है! उस युगमें पतिने अपनी स्त्रीका परिचय दिया है 'प्रियशिष्याललिते कलाविधौ' कहकर। जो अपना दाम्पत्य-संसार रचता था उसके लिए बैङ्कमें जमा रकम मुख्य चीज नहीं थी, उससे कहीं ज्यादा आवश्यक थी ललित-कलाकी। जैसे-तैसे माला गूँथनेसे ही काम नहीं चलता था; तरुणियाँ चीनांशुकके आँचलपर चित्र काढ़ना जानती

थीं, नृत्यकी निपुणता थी प्रधान शिक्षा, और उसके साथ था वीणा-वेणु वादन और गीत-गान। मनुष्यके साथ मनुष्यका जो सम्बन्ध था उसमें आत्मिकताका सौन्दर्य था।

जीवनके प्रारम्भिक दिनोंमें जिन अंग्रेज कवियोंसे हमारा परिचय हुआ, बाहरको उन्होंने अपने अन्तरके योगसे देखा था ; जगत् उनके लिए हो गया था व्यक्तिगत। उनकी अपनी कल्पना, मत और रुचिने उस विश्वको केवल मानविक और मानसिक ही कर दिया हो सो बात नहीं ; उसे विशेष कविके मनोगत भी कर दिया था। वर्ड्स्वर्थका जगत् था विशेष-रूपसे वर्ड्स्वर्थीय, शेलीका शेलीय और बायरनका बायरनिक। रचनाके इन्द्रजालमें वह पाठकोंके लिए भी अपना हो उठता था। विशेष कविके जगत्में जो वस्तु हमें आनन्द देती थी वह मिलती थी विशेष-घरके रसके आतिथ्यमें। फूल अपने वर्ण और गन्धके वैशिष्ट्यसे ही मधुमक्खियोंको निमन्त्रण भेजता है। उसकी वह निमन्त्रण-लिपि मनोहर होती है। कवियोंके निमन्त्रणमें भी स्वभावतः ही वही मनोहारिता थी। जिस युगमें संसारके साथ मनुष्यके व्यक्तित्व-सम्बन्धकी ही प्रधानता होती है उस युगमें व्यक्तिगत आमन्त्रणको यत्नपूर्वक जगाये रखना होता है ; उस युगमें वेश-भूषा और शोभन-रीतिमें अपने परिचयको उज्ज्वल बनाये रखनेकी मानो एक प्रतियोगिता-सी चालू रहती है।

हम देखते हैं कि उन्नीसवीं सदीके आरम्भमें अंग्रेजी-काव्योंमें पूर्ववर्ती कालकी जो आचार-प्रधानता थी वह व्यक्तिके आत्म-प्रकाशकी ओर मुड़ गई थी। उस युगकी यही थी आधुनिकता।

किन्तु, आज उसी आधुनिकताको मध्य-विक्टोरीय प्राचीनताकी आख्या देकर बगलके कमरेमें आरामकुरसीपर सुला देनेका प्रबन्ध कर दिया गया है। आजकल छँटे-कपड़ों और छँटे-बालोंकी खटाकेसे चलनेवाली आधुनिकता है। घड़ी-घड़ी गालोंपर पावडर और ओठोंपर रंग तो लगता ही रहता है, किन्तु वह लगता है खुले-आम और उद्धत असंकोचसे ! मानो कहना चाहती है, 'मोह नामक जो वस्तु है उसकी अब कोई जरूरत नहीं।' स्रष्टाकी सृष्टिमें पद-पदपर मोह है, यह मोहका वैचित्र्य ही नाना रूपोंमें नाना सुर बजाता रहता है। किन्तु विज्ञानने उसकी जन्मकुण्डलीकी परीक्षा कर देखी है, और कहा है, 'मूलमें

मोह नहीं है ; है केवल कार्बन हाइड्रोजन फिजियोलॉजी और साइकॉलॉजी। हम पुराने युगके कवि ठहरे, हम इन बातोंको गौण समझते थे और मायाको ही मुख्य। इसलिए हमें यह कबूल करना होगा कि स्रष्टासे होड़ बदकर छन्दमें बन्धमें भाषामें माया फैलाकर हमने मोह पैदा करनेकी ही चेष्टा की है। संकेत और इंगितमें कुछ दुबका-चोरी थी ; सो, लज्जाका जो आवरण सत्यका विरोधी न होकर उसका आभरण है उसे हम त्याग नहीं सके। उसके झीने कुहरेमेंसे छनकर जो रंगीन आलोक आया उस आलोकमें मैंने ऊषा और सन्ध्याका एक रूप देखा है। वह रूप नववधूके समान ही सकरुण है। आधुनिक दुःशासन जनसभामें विश्व-द्रौपदीका चीर हरण कर रहा है, यह दृश्य देखनेके हम अभ्यस्त नहीं। इस अभ्यास-पीड़ाके लिए ही क्या सङ्कोच होता है ? इस सङ्कोचमें क्या कोई भी सत्य नहीं है ? सृष्टिमें जो आवरण प्रकाश करता है, आच्छन्न नहीं करता, उसे छोड़ देनेसे सौन्दर्यको क्या निःस्व नहीं होना पड़ता ?

किन्तु आधुनिक कालमें मनके भीतर भी जल्दबाजी है, समयकी भी कमी है। जीविका-चीज बड़ी बात हो उठी है। जल्दबाज यन्त्रोंकी भीड़में ही मनुष्यका दनादन काम चलता है, हड़बड़ीमें ही चलता है आमोद-प्रमोद। किसी समय जो आदमी सोच-सम्हलकर धीरे-सुस्ते अपने संसारकी अपने अनुकूल सृष्टि करता था, आज वह कारखानोंपर भार सौंपकर प्रयोजनके मापसे जल्दीसे एक सरकारी आदर्शके ढाँचेमें काम-चलाऊ कुछ कर लेता है। भोज अब उठ गया है, भोजन बाकी है। आज यह सोचनेकी ताकीद ही नहीं कि मनके साथ मेल हुआ या नहीं ; क्योंकि मन अब भीड़के साथ मिलकर अतिविशाल जीविका-जगन्नाथके रथकी रस्सी खींचनेमें लगा-हुआ है। सङ्गीतके बदले निकल रहा है, 'मारो जोर हेंइया।' जनताके जगत्‌में ही उसे ज्यादा समय बिताना पड़ता है, आत्मीय-सम्बन्धके जगतमें नहीं। उसकी चित्तवृत्ति आज व्यस्तववागीशकी चित्रवृत्ति हो गई है। जल्दबाजीके भीड़-भम्भड़में असज्जित कुत्सितसे बचकर चलनेकी प्रवृत्ति उसमें रही ही नहीं।

तो फिर, कविता आज किस लक्ष्यको लेकर किस रास्तेसे जाय ? आज अपनी पसंदसे कुछ करना, चुनना, सजाना, यह नहीं चल सकता। विज्ञान चुनाव नहीं करता, जो-कुछ भी है उसको वह 'है' जानकर ही मान लेता है।

अपनी व्यक्तिगत अभिरुचिके मूल्यसे उसकी जाँच-पड़ताल नहीं करता, व्यक्तिगत अनुरागके आग्रहसे उसे सजा-सँवार नहीं लेता। इस वैज्ञानिक मनको प्रधान आनन्द कौतूहरमें ही है, आत्मीय-सम्बन्धके बन्धनमें नहीं। उसके लिए यह बात बड़ी नहीं कि 'मैं क्या चाहता हूँ', उसके लिए विचारणीय है 'मुझे छोड़कर वस्तु स्वयं वास्तवमें क्या है।' किन्तु 'मुझे' छोड़ देनेसे तो मोहका आयोजन ही अनावश्यक हो जाता है।

इसीसे इस वैज्ञानिक युगकी काव्य-व्यवस्थामें जो व्यय-संकोच चल रहा है उसमें सबसे ज्यादा छँटाई हुई है प्रसाधनमें। छन्दमें बन्धमें भाषामें अत्यधिक चुनना-छाँटना समाप्तिकी ओर है। यह स्वाभाविक ढंगसे नहीं हुआ ; बल्कि अतीत युगका नशा उतारनेके लिए ही कमर कसकर उसे अस्वीकार करना एक प्रथामें परिणत हो गया है। कहीं अभ्यासके खिंचावसे चुनने-छाँटनेकी बुद्धि दीवार फाँदकर अन्दर न घुस आये इस डरसे दीवारपर रूढ़ कुश्री-रूपसे काँचके टुकड़े बैठानेकी चेष्टा है यह। एक कविने लिखा है, 'I am the greatest laugher of all.' कहा है, 'मैं सबसे बड़ा हँसनेवाला हूँ, सूरजसे बड़ा ओक-वृक्षसे बड़ा, मेढकसे बड़ा, ऐपोलो देवतासे भी बड़ा।' 'Than the frog and Appolo' यह है टूटे काँचका टुकड़ा। कहीं लोग यह न समझ बैठें कि कवि मधुरतासे सजाकर बात कर रहा है। मेढक न कहकर यदि कहा जाता समुद्र, तो वर्तमान युग आपत्ति उठाकर कह सकता था, 'यह तो सोलहो-आने कविगिरी हो गई।' हो सकता है, किन्तु इससे बहुत ज्यादा उलटे ढंगकी कविगिरी हुई मेढककी बात। अर्थात् यह कोई सहज कलमकी लिखावट नहीं, यह है बदनपर पड़कर पाँव कुचल देना। यही आजकलका कायदा है।

किन्तु, बात यह है कि यह माननेके दिन अब लद गये कि भद्र-कवितामें मेढ़क-जीवका जल आचरणीय नहीं है। जहाँ तक सत्यका सवाल है, मेढ़क ऐपोलोसे बड़ा ही है, छोटा नहीं। मैं भी मेढ़ककी अवज्ञा नहीं करना चाहता; यहाँ तक कि यथास्थानमें कवि-प्रेयसीके साथ मेढ़ककी टर्रटर्र-हँसीको भी एक पंक्तिमें बिठाया जा सकता है। किन्तु बहुत बड़े वैज्ञानिक साम्यतत्त्वमें भी जो हँसी सूर्यकी है, जो हँसी ओककी है, जो हँसी ऐपोलोकी है, वह मेढ़ककी

नहीं है। यहाँ तो उसे जबरदस्ती खींचकर लाया गया है मोह छुड़ानेके लिए। किन्तु, मोहका आवरण हटाकर, जो जैसा है उसे वैसा ही देखना होगा। उन्नीसवीं सदीमें मायाके रंगसे जो रंगीन था, आज वह फीका हो आया है। उस मिठासके आभासमात्रसे अब भूख नहीं मिटती, अब वस्तु चाहिए। 'घ्राणेन अर्धभोजनम्' कहनेसे अब लगभग बारह-आना अत्युक्ति होगी। एक आधुनिका कवियित्रीने अतीत युगकी सुन्दरीसे अत्यन्त स्पष्ट भाषामें जो सम्भाषण किया है, उसका अनुवाद यहाँ दिया जाता है। अनुवादमें माधुर्य का समावेश करना बेमेल होगा और उसकी चेष्टा भी सफल न होगी :—

तुम सुन्दरी हो और हो बासी-बुसी,
मानो पुरानी किसी रासलीलाका सुर
बज रहा हो पुरानी सारङ्गीपर।
किंवा किसी साबिक कालके बैठकेमें
मानो रेशमी असबाब हो, जिसपर पड़ी हो धूप।
तुम्हारी आँखोंमें नष्ट-आयु निमिषोंकी
गुलाबकी झरी पँखड़ियाँ जीर्ण हुई जाती हैं।
तुम्हारे प्राणोंकी गन्ध है अस्पष्ट, बिखरी-पड़ी-सी,
माटीके बर्तनमें ढके-हुए बाल धोनेके मसाले-सी झाँस है उसमें।
तुम्हारे अति-कोमल सुरका मिश्रण मुझे लगता अच्छा है—
तुम्हारे मिले-जुले रंगोंकी ओर देखकर मेरा मन उन्मत्त हो उठता है।
और मेरा तेज मानो टकसालका नया पैसा है,
उसे मैंने डाल दिया तुम्हारे कदमोंपर।
धूलमेंसे उठा लो उसे,
शायद उसकी चमकसे तुम्हें मजा आये!

इस आधुनिक पैसेकी कीमत तो कम है, पर जोर है ज्यादा, और अत्यन्त स्पष्ट है वह, हालके सुरमें टन्न-से बज उठता है। प्राचीन कालके माधुर्यमें एक नशा है, किन्तु इसमें है स्पर्द्धा। इसमें कहीं भी कुछ धुँधलापन नहीं।

आजकी कविता अपने विषयके लालित्यसे मनको नहीं मोहती। तो फिर वह खड़ी किस बुनियादपर है? खड़ी है अपनी आत्मताके बलपर, जिसे

अंग्रेजीमें 'कैरेक्टर' कहते हैं। वह कहती है, 'अयमहं भोः', 'मुझे देखो।' उपर्युक्त नारी-कविने, जिनका नाम है एमि लोएल, लाल चप्पलकी दूकानपर एक कविता लिखी है। विषय है संध्या-रात्रिमें बाहर बर्फीली हवा चल रही है और अन्दर पालिशदार काँचके पीछे लाल चप्पलोंकी माला झूल रही है, like stalactites of blood, flooding the eyes of passers by with dripping color, jamming their crimson reflections against the windows of cabs and tramcars, screaming their claret and salmon into the teeth of the sleet, plopping their little round maroon lights upon the tops of umbrellas. The raw of white, sparkling shop fronts is gashed and bleeding, it bleeds red slippers. सब-कुछ चप्पलोंपर ही कहा गया है।

इसीको कहा जाता है नैर्व्यक्तिक, इम्पर्सनल। चप्पलोंकी इस मालापर आसक्तिका कोई विशेष कारण नहीं; न दूकानदार सोचता है, न खरीददार। फिर भी रुककर देखना पड़ा, सारे चित्रकी आत्मता ज्यों ही फूट उठी त्यों ही उसकी तुच्छता जाती रही। जो माने-बटोरू हैं वे पूछेंगे, 'इसके माने क्या हुए महाशय? चप्पलोंको लेकर ऐसी चीख-पुकार क्यों, उसका रंग लाल ही हुआ तो क्या है?' उत्तरमें कहा जा सकता है, 'खुद ही आँखें उठाकर देख क्यों नहीं लेते!' 'देखनेसे फायदा क्या', इसका कोई जबाव नहीं।

सौन्दर्यतत्त्व (Aesthetics : नन्दनतत्त्व) के सम्बन्धमें एक कविता है। उसमें लिखा है : एक लड़की रास्तेसे जा रही थी। एक छोटा लड़का था, थिगरे-लगे कपड़े पहने, उसका मन जाग उठा, उससे रहा न गया; बोल उठा, 'देखो तो कितनी सुन्दर है!' इस घटनाके तीन वर्ष बाद फिर उस लड़केसे भेंट हुई। उस साल जालमें सार्डिन मछली बहुत फँस रही थीं। उसके बाप-चाचा लकड़ीकी बड़ी-बड़ी पेटियोंमें मछलियोंको सहेजकर रख रहे थे, हाटमें बेचनेके लिए। वह लड़का उन मछलियोंको बड़ी उमंगसे छूता फिरने लगा। बड़े-बूढ़ोंने डाटकर कहा, 'चुपचाप बैठा रह।' इसपर उन सजाई-हुई मछलियों पर हाथ फेरकर उस लड़केने तृप्तिके साथ ठीक वही बात कही, 'कितनी सुन्दर है!' कवि कहते हैं, 'सुनकर I was mildly abashed.'

सुन्दरी लड़कीको भी देखो और सार्डिन मछलीको भी ; एक ही भाषामें यह कहनेमें कुण्ठित न होना कि 'कैसी सुन्दर है !' यह देखना नैर्व्यक्तिक विशुद्ध देखना है, इस पंक्तिमें चप्पलकी दूकानको छेका नहीं जा सकता।

काव्यमें विषयीकी आत्मता थी उन्नीसवीं सदीमें ; बीसवीं सदीमें है विषयकी आत्मता। यही कारण है कि आज काव्य-वस्तुकी वास्तवतापर ही ज्यादा जोर दिया जाता है, अलंकारपर नहीं। कारण अलंकार व्यक्तिकी अपनी ही रुचिको प्रकट करता है, और विशुद्ध-वास्तवताका जोर होता है विषयके अपने प्रकाशके लिए।

साहित्यमें आविर्भूत होनेके पहले ही यह आधुनिकता चित्रोंमें उतर चुकी थी। इस बातको न माननेके लिए उसने काफी ऊधम मचाना शुरू कर दिया था कि 'चित्रकला भी ललितकलाका अङ्ग है।' उसने कहा, 'कलाका काम मनोहरण नहीं, मनोजय है ; उसका लक्षण लालित्य नहीं, यथार्थता है।' उसने चेहरेमें मोहको नहीं माना, माना कैरेक्टरको, अर्थात् एक समग्रताकी अत्म-घोषणाको। यह चेहरा अपने सम्बन्धमें और कुछ परिचय नहीं देना चाहता, केवल जोरके साथ कहना चाहता है कि 'मैं द्रष्टव्य हूँ।' उसका यह जोर भाव-भङ्गीसे नहीं, सृष्टिकी नकल-नबीसीसे नहीं, आत्मगत सृष्टि-सत्यसे है। यह सत्य धर्म-नैतिक नहीं, व्यवहार-नैतिक नहीं, भाव-व्यञ्जक भी नहीं, यह सत्य सृष्टिगत है, अर्थात् उसे स्वीकार इसीलिए करना होगा कि वह हो उठा है। जैसे हम मोरको मान लेते हैं, गिद्धको भी मानते हैं और सूअरको भी अस्वीकार नहीं कर सकते। हरिनके लिए भी यही बात है।

कोई सुन्दर है तो कोई असुन्दर, कोई काम-काजी है तो कोई निकम्मा, किन्तु सृष्टिके क्षेत्रमें किसी बहाने किसीको छोड़ा नहीं जा सकता। साहित्य और चित्रकलामें भी ऐसा ही होती है। किसी रूपकी सृष्टि यदि हुई हो, तो फिर और कोई जवाबदेही नहीं ; और यदि नहीं हुई हो और उसकी सत्तामें कोई बल न हो, केवल भाव-लालित्य ही हो, तो वह वर्जनीय है।

इसलिए, आजके जिस साहित्यने आधुनिकके धर्मको स्वीकार कर लिया है वह सावधानीसे पुराने युगके कौलीन्यके लक्षण मिलाकर जात बचाकर

चलनेकी अवज्ञा करता है, उसके छूत-परहेज कुछ भी नहीं। एलियटकी कविता ऐसी ही आधुनिक कविता है, ब्रिजेसकी वैसी नहीं है। एलियटने लिखा है :–

इस घरमें उस घरमें जानेकी राहमें रँधे मांसकी गन्ध है,
इसीसे जाड़ेकी सन्ध्या जमती आ रही है।
अभी तो छै बजे हैं,–
धुमैला दिन और जली बत्ती शेष अंशमें आ अटकी है,
बदलीकी हवा पाँवोंके पास उड़ा लाती है
परती जमीनसे भूल-लिपटे सूखे पत्ते
और फटे अखबारके टुकड़े।
खिड़कीके टूटे काँच और चिमनीके चोंगेपर
लग रहे हैं वर्षाके झपट्टे,
और रास्तेके एक किनारे भाड़ेकी गाड़ीका खड़ा है एक घोड़ा,
भाप उठ रही है उसके बदनसे
और वह रह-रहकर टाप ठोंक रहा है जमीनपर।

इसके बाद बासी 'बीयर'के गन्ध-भरे कीचसे लथपथ सवेरेका वर्णन है। ऐसे सवेरेमें एक नारीको लक्ष्य करके कहा गया है :–

बिस्तरसे कम्बलको तुमने उठा फेंका है,
चित पड़ी राह-सी देख रही हो तुम,
कभी ऊँघती हो, देखती हो, रातमें प्रकट हो रही हैं
हजारों घटिया दरजेकी खयाली तसवीरें,
जिनसे तुम्हारा स्वभाव बना है।

इसके बाद पुरुषका हाल सुनिये :–

His soul stretched tight across the skies
That fade behind a city block,
Or trampled by insistent feet
At four and five and six o'clock;
And short square fingers stuffing pipes,
And evening newspapers, and eyes
Assured of certain certainties,

The conscience of a blackened street
Impatient to assume the world.

इस धुमैले और कीचसे लथपथ, तरह-तरहकी बासी गन्ध और कूड़ेसे भरी नितान्त घटिया-दरजेकी सन्ध्या-रात्रि और सवेरेके भीतर कविके मनमें एक विपरीत जातकी तसवीर जाग उठती है। कवि कहता है :—

I am moved by fancies that are curled
Around these images and cling ;
The notion of some infinitely gentle
Infinitely suffering thing.

बस यहीं आकर 'ऐपोलो'के साथ 'मेढ़क'का मेल नहीं टिक सका। यहाँ कूप-मण्डूककी टर्रटर्रने ऐपोलोकी हँसीको पीड़ा दी है, यहाँ एक बात स्पष्ट ही समझमें आ जाती है कि कवि नितान्त वैज्ञानिक-रूपसे निर्विकार नहीं है। इस बुरे संसारसे उनकी वितृष्णा इस बुरे संसारके वर्णनसे ही प्रकट हो रही है, इसीलिए कविताके उपसंहारमें उन्होंने जो कुछ कहा है वह इतना कड़ा है :—

"मुँहपर एक बार हाथ फेरकर हँस लो।
देखो, दुनिया चक्कर खा रही है, मानो बूढ़ी औरतें
परती जमीनसे उपले बीन रही हों।"

इस उपले बीननेवाले बूढ़े जगत्से कविकी अनभिरुचि स्पष्ट दिखाई दे रही है। प्राचीन कालसे इसका भेद यह है कि इसमें रंगीन स्वप्नोंसे मनगढ़ंत संसारमें अपनेको भुलाये रखनेकी इच्छा नहीं है। कवि इस कीचड़मेंसे ही अपनी कविताको पैदल लिये जा रहे हैं, धोबीके-धुले कपड़ोंसे उन्हें ममता नहीं है। इसका यह मतलब नहीं कि उन्हें कीचड़का मोह है, असलमें कीचड़की दुनियामें आँख खोलकर कीचड़को भी देखना है, उसको भी मानना है। यदि उसमें भी कहीं ऐपोलोकी हँसी खिल उठे तो अच्छा ही है। और यदि न खिले, तो मेढ़कके उस अट्टहास्यकी भी उपेक्षा नहीं करनी है। कमसे कम वह भी तो एक चीज है ; इस विश्वके साथ मिलाकर उसे भी एक नजर देखा जा सकता है ; उसकी ओरसे भी कहने-लायक कुछ है। सुसज्जित भाषाके कमरेमें उस मेढ़कको बिठाना सोहेगा नहीं, किन्तु अधिकांश जगत्-संसार ही तो उस सुसज्जित कमरेके बाहर है।

प्रातःकालका प्रथम जागरण है। उस जागरणमें पहले अपनी उपलब्धि है, चैतन्यका नूतन चाञ्चल्य। इस अवस्थाको रोमान्टिक कहा जा सकता है। सद्य-जाग्रत चैतन्य अपनेको बजाकर देखनेके लिए बाहर निकलता है। मन विश्व-सृष्टिमें और अपनी रचनामें अपनी चिन्ता-धाराको, अपनी वासनाको रूप देता है। भीतरसे जिस वस्तुको वह चाहता है बाहर उसे तरह-तरहकी मायासे गढ़ता है। फिर प्रकाश तीव्र होता है, अनुभव कठोर होते हैं और सांसारिक आन्दोलनसे अनेक माया-जाल छिन्न हो जाते हैं। तब स्वच्छ आलोकमें, मुक्त आकाशमें, अनेक स्पष्टतर वास्तवमें उसका परिचय होता है। इस परिचित यथार्थका विभिन्न कवि विभिन्न प्रकारसे स्वागत करते हैं। कोई उसे अविश्वासकी दृष्टिसे विद्रोहके रूपमें देखते हैं तो कोई उसके प्रति ऐसी अश्रद्धा करते हैं कि रूढ़ताके साथ निर्लज्ज व्यवहार करनेमें भी संकोच नहीं करते। और फिर प्रखर प्रकाशमें उसकी जो अतिप्रकाशित आकृति है उसके भीतर भी कोई-कोई गभीर रहस्यकी उपलब्धि करते हैं; वे ऐसा नहीं सोचते कि गूढ़ कुछ होता ही नहीं; और न ऐसा ही सोचते हैं कि जो-कुछ प्रतीयमान है उसीमें सब-कुछ निःशेष होकर पकड़ाई दे गया है।

पिछले महायुद्धमें मनुष्यको इतने कटु अनुभव हुए, इतने निष्ठुर अनुभव कि उसमें सदियोंसे संचित और प्रचलित जो भी कुछ संस्कृति-सभ्यता थी वह सांघातिक संकटमें पड़कर नष्टभ्रष्ट हो गई। जिस सामाजिक परिवेशमें एकांत विश्वासी होकर मनुष्य निश्चिन्त था वह सब देखते-खते चूर-चूर हो गया। जिन शोभन-नीति और कल्याण-नीतियोंपर मनुष्य टिका था उसका विध्वस्त रूप देखकर वह अब तकके भद्र विषयोंको दुर्बल और आत्म-प्रतारणाका कृत्रिम उपाय कहकर, उनकी अवज्ञा करनेमें ही मानो उग्र आनन्दका अनुभव करने लगा; और आज तो उसने विश्व-निन्दुकताको ही सत्यनिष्ठा मान लिया है।

किन्तु, सचमुच ही यदि आधुनिकताका कोई तत्त्व है और उस तत्त्वको नैर्व्यक्तिक कहा जा सकता है, तो यह कहना ही होगा कि विश्वके प्रति यह जो उद्धत अविश्वास और कुत्साकी दृष्टि है, यह भी आकस्मिक विप्लव-जनित एक व्यक्तिगत चित्त-विकार है। यह भी एक मोह है, इसमें भी शान्त और निरासक्त चित्तसे वास्तवको सहज-रूपमें ग्रहण करनेकी गभीरता नहीं है।

बहुतोंका खयाल है कि यह उग्रता ही, यह कालापहाड़के समान बात-बातमें ताल ठोंकना ही, आधुनिकता है। किन्तु मैं ऐसा नहीं समझता। हजारों आदमी आज इन्फ्लुएंजाके शिकार होनेपर भी यह मैं नहीं कहूँगा कि इन्फ्लुएंजा ही शरीरका आधुनिक स्वभाव है। एह वाह्य। यह बाहरी बात है। इस इन्फ्लुएंजाके अन्तरालमें ही छिपा है देहका सहज-स्वभाव।

यदि मुझसे कोई पूछे कि 'यह आधुनिकता है क्या चीज', तो मैं कहूँगा, 'विश्वको व्यक्तिगत आसक्त-भावसे न देखकर निर्विकार तद्गत-भावसे देखना ही आधुनिकता है।' यह देखना ही उज्ज्वल है, विशुद्ध है; यह देखना ही विशुद्ध आनन्द है। आधुनिक विज्ञान जिस निरासक्त-भावसे वास्तवका विश्लेषण करता है, काव्य भी ठीक वैसे ही निरासक्त-चित्तसे विश्वको समग्र दृष्टिसे देखे, यही शाश्वत-रूपसे आधुनिकता है।

किन्तु इसे आधुनिक कहना बिलकुल फालतू बात है। यह जो निरासक्त सहज-दृष्टिका आनन्द है, यह किसी विशेष कालका नहीं है। वस्तुतः जिसकी दृष्टि इस अनावृत जगत्में संचरण करना जानती है, यह उसीका है। चीनके कवि ली-पो जब कविता रचते थे, तो वह हजार वर्षसे भी ज्यादा पहलेकी बात है, किन्तु वे आधुनिक थे। उनकी दृष्टि थी विश्वको तत्काल देखनेवाली दृष्टि। उन्होंने मात्र पाँच पंक्तियोंमें सादी भाषामें लिखा है :–

"इन हरे पहाड़ोंमें मैं क्यों रहता हूँ?
सुनकर प्रश्न हँसी आती है, चुप रह जाता हूँ।
और-एक आकाश, और-एक धरतीपर जो रहता हूँ,–
वह जगत् किसी आदमीका नहीं है।
पीचके पेड़में फूल खिलते हैं।
पानीका स्रोत बहता है।"

एक-और चित्र देखिये :–

"सुनील जल··· निर्मल चाँद,
चाँदकी चाँदनीमें सफेद सारस उड़े जा रहे हैं।
वह सुनो, स्त्रियाँ सिंघाड़े इकट्ठे करने आई थीं,–
गीत गाती-हुई वे घर लौट रही हैं।"

एक और :–

"वसन्तमें उघड़े-बदन लेटा हुआ हूँ हरियालीपर।
इतना आलस कि सफेद परोंका पंखा झलते नहीं बनता।
पहाड़पर एक तरफ टोपी उतारकर रख दी है,
पाइन-वृक्षोंमेंसे छन-छनकर हवा आ रही है
मेरे उघड़े सिरसे लग रही है।"

एक बहूकी कहानी सुनिये :–

"मेरे छँटे-हुए बाल थे छोटे-छोटे, उससे माथा नहीं ढकता था।
द्वारके सामने खेल रही थी मैं, तोड़ रही थी फूल।
इतनेमें, हे मेरे प्रियतम,
तुम बाँसके खिलौने-घोड़ेपर बैठकर
कच्चे बेर बखेरते-हुए चले आये।
चङ्कानकी गलीमें रहते थे हम दोनों, पास-पास।
हम दोनोंकी उमर थी कम, मन था आनन्दसे लबालब भरा!
चौदहमें पाँव धरा कि तुमसे हो गया ब्याह,
लाज इतनी थी कि हँस भी न सकती थी,
अँधेरे कोनेमें सिर गाड़े पड़ी रहती,
तुम लाख पुकारते, मैं मुँह नहीं फेरती।
पन्द्रहवाँ साल आते-आते मेरी भृकुटी गई भाग,
मैं हँसी।...
जब मैं सोलहकी हुई, तुम परदेस चले गये–
च्युटाङकी पहाड़ी राहसे, जलावर्त और पत्थरके टीलोंमें होकर।
पाँचवाँ महीना आया,–फिर मुझसे सहा नहीं गया।
अपने द्वारके सामनेसे तुम्हें जाते देखा था,
तुम्हारे पद-चिह्न वहाँ हरी शैवालसे ढक गये,
वह शैवाल इतनी घनी थी कि बुहारकर हटाई नहीं जा सके।
और अन्तमें शरत्‌की पहली बयारसे उसपर झरे पत्ते आ जमे।
अब आठवाँ महीना है।

पीली-पीली तितलियाँ
हमारे बगीचेकी घासपर उड़ती फिरती हैं।
मेरी छाती फटी जा रही है, डरती हूँ कहीं मेरा रूप म्लान न हो जाय।
प्यारे, जब तुम तीन-तीन जिले पार होकर लौटोगे
तब मुझे पहलेसे ही खबर देना न भूल जाना।
चङफेङशाकी लम्बी सड़कसे मैं पैदल चलके आऊँगी, तुमसे भेंट होगी।
बहुत दूर है, इससे मैं जरा भी डरूँगी नहीं।"

इस कवितामें सेन्टिमेन्टका सुर जरा भी चढ़ाया नहीं गया है, और इसमें व्यंग या अविश्वासका कटाक्ष भी नहीं है। विषय अत्यन्त प्रचलित है, फिर भी इसमें रसकी कमी नहीं। इसकी शैलीमें जरा-सा बाँकपन लाकर व्यंग कर देनेसे यह आधुनिक हो जाती। कारण, जिस बातको सभी-कोई आसानीसे मान लेते हैं, आधुनिक लोग उसे काव्यमें माननेमें अवज्ञा करते हैं। बहुत सम्भव है कि कोई आधुनिक कवि होता तो इस कविताके उपसंहारमें लिखता, "पति आँखोंके आँसू पोंछकर पीछे मुड़-मुड़कर देखता-हुआ चला गया; और स्त्री तब सूखी मछलीके 'बड़े' बनाने लगी।" किसके लिए ? इस प्रश्नके उत्तरमें होती डेड़ पंक्तिकी बिन्दियाँ। प्राचीन युगके पाठक पूछते, 'यह क्या हुआ ? आजके कवि कह देते, 'अजी, ऐसा ही हुआ करता है।' फिर पूछते, 'और भी तो कुछ हो सकता था ?' उत्तर पाते, 'हो तो सकता था, पर वह बहुत ज्यादा भद्र हो जाता। जरा दुर्गन्ध न होनेसे उसका शौकीनी भाव नहीं मिटता, वह आधुनिक नहीं होता।' उस समयके काव्यकी बाबूगिरी थी सौजन्य-जड़ित। आजके काव्यमें भी बाबूगिरी है, पर अब वह है सड़े मांसके विलासमें।

चीनी कविताके बगलमें रखके देखनेसे विलायती कवियोंकी आधुनिकता सहज-स्वाभाविक नहीं लगती। वह पंकिल है। उनका मन अपनी कुहनीके धक्केसे पाठकोंको मानो ठेलती रहती है। ऐसे कवि जिस विश्वको देखते और दिखाते हैं वह टूटता-हुआ खंडहर-सा और धूल-भरा होता है। उनका चित्त आज अस्वस्थ है, चंचल है, अव्यवस्थित है। ऐसी अवस्थामें विशुद्ध रूपसे वे अपनेको विश्व-विषयसे अलग नहीं कर सकते। टूटी-हुई देवमूर्तिकी लकड़ी-पुआलको देखकर वे अट्टहास्य करते हैं, कहते हैं, 'अब असल चीज

पकड़में आई है।' मिट्टीके ढेल और लकड़ी-पुआलको छेड़-छाड़कर कड़ी बात कहनेको ही वे कहते हैं, 'असल सत्यको जोरके साथ स्वीकार करना।'

इस प्रसङ्गमें एलियटकी एक कविता याद आती है। कविताका विषय है, 'बूढ़िया चल बसी। बड़े घरानेकी स्त्री थी वह। नियमानुसार घरकी सब झिलमिलियाँ बन्द कर दी गईं। शव-वाहक आ पहुँचे, और नियमानुसार समयोचित व्यवस्था करने लगे। और उधर खानेके कमरेमें घरका बड़ा खानसामा डिनर-टेबिलके पास बैठा घरकी मझली दाईको अपनी गोदमें खींच रहा था।'

यह घटना विश्वास करने योग्य और स्वाभाविक है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु, जिनके पुराने जमानेके मिजाज हैं उनके मनमें यह सवाल उठेगा कि इतना ही क्या यथेष्ट हुआ? इस कविताके लिखनेका उद्देश्य क्या है, और कोई इसे पढ़ेगा भी तो क्यों पढ़ेगा? किसी कवितामें किसी सुन्दरकी मधुर हँसीका उल्लेख हो, तो कहेंगे कि 'हाँ, यह एक कहने-जैसी बात थी।' किन्तु, उसके बाद ही यदि ऐसा वर्णन आये कि 'दाँतका डाक्टर आया, उसने परीक्षा करके देखा कि उसके दाँतोंमें कीड़े लग गये हैं', तो कहना होगा कि यह भी एक पतेकी बात है,—किन्तु यह सबको बुलाकर ढिंढोरा पीटकर सुनाने-लायक बात नहीं। यदि देखूँ कि किसीको इसके प्रचारकी ही विशेष उत्सुकता है, तो सन्देह करूँगा कि उसके स्वभावमें ही कीड़े पड़ गये हैं। यदि ऐसा कहा जाय कि 'पहलेके कवि चुन-चुनकर कविता लिखते थे, अति-आधुनिक कवि ऐसा नहीं करते', तो यह मैं नहीं मान सकता। आधुनिक कवि भी चुन-चुनकर कविता करते हैं। ताजे फूलोंका चुनाव भी चुनाव है और कीड़े-लगे सूखे फूलोंका चुनना भी चुनाव है। फर्क है तो सिर्फ इतना ही कि इन्हें हमेशा इस बातका डर है कि कहीं कोई यह कहकर उन्हें बदनाम न करे कि 'इन्हें चुननेका शौक है।' अघोरपंथी चुन-चुनकर गन्दी चीजें खाते हैं, भद्दी चीजोंको काममें लाते हैं, इसलिए कि कहीं यह प्रमाणित न हो जाय कि उत्कृष्ट चीजोंके प्रति उनका मोह है। पर इसका नतीजा यह होता है कि अ-उत्कृष्ट चीजोंके प्रति उनका पक्षपात पक्का हो जाता है। काव्यमें यदि अघोरपन्थकी साधना प्रचलित हो जाय, तो वे बेचारे कहाँ जायँगे जिनमें

शुचिताकी रुचि है ? किसी-किसी पेड़के फूल और पत्तोंमें बराबर कीड़े लगा करते हैं और बहुतसे पेड़ोंमें नहीं लगते,– इसमें क्या प्रथमको प्राधान्य देनेको ही वास्तव-साधना बताकर बहादुरी जतानी होगी ?

एक कविने एक सम्भ्रान्त व्यक्तिका वर्णन किया है। मूल कविता उपस्थित न होनेसे स्मृतिके बलपर अनुवाद करना पड़ा है, कुछ त्रुटि हो सकती है :—

"रिचर्ड कोडी जब शहर जाते तो
पैदल चलनेवाले हम-जैसे लोग उन्हें देखते ही रह जाते।
भद्र पुरुष जिसे कहते हैं, एड़ीसे चोटी तक,
छरहरा बदन, राजपुत्र हो मानो।
सादी चाल, सादी वेश-भूषा,–
किन्तु जब कहते, 'गुड मॉर्निंग', तो –
हमारी धमनियाँ चंचल हो उठतीं।
बहुत बड़े धनी थे वे।
व्यवहारमें प्रसादगुण था अद्भुत।
जिस किसीपर भी उनकी निगाह पड़ती, उसे ऐसा लगता –
अहा, मैं ही होता कहीं रिचार्ड कोडी !
इधर हम जब खटते-खटते मरे जाते थे,
देखते थे, कब होगा उजाला,–
खानेमें मांसका नाम तक नहीं,
मोटी रोटीपर ही हम गालियाँ झाड़ा करते,–
और ऐसेमें वसन्तकी एक शान्त रातमें
रिचर्ड कोडी अपने घर गये,
और अपने माथेमें दाग ली उन्होंने एक गोली !"

इस कविदामें आधुनिकताका व्यङ्ग-कटाक्ष नहीं है, और न अट्टहास्य ही है। करुणाका आभास जरूर है कुछ-कुछ। किन्तु, इसमें एक नीति-कथा है, और वह है आधुनिक नीति। नीति-कथा यह है कि जो हमें स्वस्थ और सुन्दर-से दिखाई पड़ते हैं, उनके भीतर भी कहीं कोई घातक रोग छिपा

बैठा है। जिसे हम धनी समझते हैं, हो सकता है कि उसमें परदेकी ओटमें कहीं कोई भिखारी बैठा हो। प्राचीन युगके जो वैराग्यपन्थी हैं उन्होंने भी ऐसी ही बातें कही हैं। जो जीवित हैं उन्हें वे इस बातकी याद दिला देते हैं कि एक दिन उन्हें बाँसकी डोलीमें चढ़कर श्मशान जाना पड़ेगा। युरोपके संन्यासी उपदेशकोंने बताया है कि मिट्टीके नीचे गलित देहको किस तरहसे कीड़े खाते हैं। नीति-शास्त्रकी यह चेष्टा देखी जाती है कि वह यह बताकर हमें चौंका देना चाहता है कि जिसे हम सुन्दर शरीर समझते हैं वह रक्त-मांस और हड्डियोंका एक कुत्सित संयोग है। ऐसे प्रत्यक्ष वास्तवके प्रति हमारी अश्रद्धाको जगा देना वैराग्य-साधनाका श्रेष्ठ उपाय है। किन्तु कवि तो किसी बैरागीका चेला नहीं, वह तो अनुरागका ही पक्ष लेने आया है। किन्तु यह आधुनिक युग क्या इतना ही जराजीर्ण है कि उस कविको भी लग गई श्मशानी हवा? ऐसी बात वह प्रसन्नतासे कहने लगा कि जिसे हम महत् समझते हैं उसमें घुन लगा हुआ है और जिसको हम सुन्दर समझकर लाड़-प्यार करते हैं उसीमें अस्पृश्यता है?

जिनका मन बूढ़ा हो गया है उनमें विशुद्ध स्वाभाविकताका बल नहीं है। ऐसे मन अशुचि और अस्वस्थ हो उठते हैं। ऐसे मन विपरीत मार्गसे अपनी निश्चेष्टताको दूर करना चाहते हैं, और सड़ी-बुसी चीजके समान तरह-तरह की विकृतियोंसे वे अपनेको जिलाये रखते हैं। उनके माथेकी बलिरेखाओंमें हँसीकी धारा तभी प्रवाहित हो सकती है जब वे लज्जा और घृणाका त्याग कर देते हैं।

मध्य-विक्टोरीय युगने वास्तवका सम्मान करके श्रद्धेय-रूपमें उसका अनुभव करना चाहा था, और आजका युग वास्तवको अवमानित करके उसकी सारी आबरूको ही मिटा देनेको साधनाका विषय समझता है।

विश्व-विषयके प्रति अत्यधिक श्रद्धाको यदि 'सेन्टिमेन्टलिज्म' कहा जाय तो जोर-जबरदस्ती उसकी विरुद्धताको भी वही नाम दिया जा सकता है। चाहे किसी भी कारणसे हो, मनके इस तरह बिगड़ जानेसे दृष्टि सहज स्वाभाविक नहीं रहती। इसलिए, 'अतिभद्रताका पण्डा' कहकर यदि विक्टोरीय युगका व्यंग किया जाय, तो इसका विपरीत विशेषण देकर

एडवर्ड-युगका भी व्यंग किया जा सकता है। किन्तु यह बात स्वाभाविक नहीं, अतएव शाश्वत भी नहीं। चाहे विज्ञान हो चाहे कला, उसका वाहन निरासक्त मन ही हो सकता है। युरोपने साइन्समें तो वैसा मन पाया है, किन्तु साहित्यमें नहीं पाया।

बंगला-रचना : वैशाख १६८६
हिन्दी-अनुवाद : आषाढ़ २००६

—

साहित्य-तत्त्व

'मैं हूँ' और 'और-सब हैं'—यह मेरे अस्तित्वके भीतर युगल मिलन है। अपने बाहर कुछ भी यदि अनुभव न करूँ, तो अपनेको भी अनुभव नहीं करता। बाहरकी अनुभूति जितनी प्रबल होती है, अन्तरात्मामें सत्ता-बोधको भी उतना ही बल मिलता है।

'मैं हूँ'—यह सत्य मेरे लिए चरम मूल्यवान है। इसलिए, जिससे मेरा यह बोध बढ़ता है उसमें मेरा आनन्द है। बाहरकी जिस-किसी चीजसे मैं उदासीन नहीं रह सकता, जिसमें मेरी उत्सुकता है, जो मेरी चेतनाको जगाये रखती है, वह चाहे कितनी ही तुच्छ क्यों न हो, उसीमें मनको आनन्द मिलता है, फिर चाहे वह पतंग-उड़ाना हो या लट्टू-घुमाना। कारण, उस आग्रहके आघातसे मैं अपनेको अत्यन्त-रूपसे अनुभव करता हूँ।

मैं हूँ एक, बाहर है बहु। यह 'बहु' मेरी चेतनाको विचित्र बनाये रखता है, अपनेको मैं नाना विषयोंमें नानाप्रकारसे जानता हूँ। इस वैचित्र्यके द्वारा मेरा आत्मबोध सर्वदा उत्सुक बना रहता है। बाहरकी अवस्था एकरस होनेसे मनुष्यका मन मर-सा जाता है।

शास्त्रमें कहा गया है, एकने कहा, 'मैं बहु होऊँगा।' अर्थात् अनेकमें एकने अपने ऐक्यका अनुभव करना चाहा। इसीका नाम है 'सृष्टि'। मेरेमें जो 'एक' है वह भी अपनेको अनेकमें पाना चाहता है। कारण, उपलब्धिका

ऐश्वर्य उसके बहुलत्वमें है। हमारे चैतन्यमें निरन्तर प्रवाहित हो रही है बहुतकी धारा, रूपमें रसमें नाना घटनाओंकी तरंगोंमें ; उसीका प्रतिघात स्पष्ट करता रहता है 'मैं हूँ' मेरे इस बोधको। अपने आगे अपने आकाशकी इस स्पष्टतामें ही आनन्द है। और, अस्पष्टतामें ही अवसाद है।

कारागारमें अकेले बन्दीके लिए और-कोई पीड़न यदि न भी हो, तो भी धुँधला हो आता है उसका निजत्वका बोध ; और वह मानो 'नहीं हूँ' या 'नहीं-होने'के बराबर है। 'मैं हूँ' और 'नहीं-मैं हूँ' ये दो निरन्तर धाराएँ मेरे भीतर लगातार एकीभूत होकर मेरी सृष्टि करती चली जा रही है। अन्तर-बाहरके इस सम्मिलनकी धारा जब मेरी अपनी सृष्टिको कृश या विकृत कर देती है तो निरानन्द होता है।

यहाँ तर्क उठ सकता है कि 'मैं'के साथ 'नहीं-मैं'के मिलनसे दुःखका भी तो उद्भव होता है। सो हो सकता है। किन्तु, इतना याद रखना चाहिए कि सुखका ही विपरीत है दुःख, आनन्दका विपरीत नहीं। वस्तुतः दुःख आनन्दके ही अन्तर्भूत है। यह बात सुननेमें स्वतःविरुद्ध है, किन्तु है सत्य। कुछ भी हो, यह चर्चा अभी छोड़े देता हूँ, पीछे करूँगा।

हमारा जानना दो तरहका है, ज्ञानका जानना और अनुभवका जानना। 'अनुभव'-शब्दके धातुगत अर्थमें है 'अन्य-कुछके अनुसार हो उठना'। केवल बाहरसे संवाद पाना ही नहीं, अन्तरमें अपने ही अन्दर एक परिणति घटना। बाहरके पुद्‌गल-पदार्थोंके योगसे किसी विशेष रूप, विशेष रस, विशेष गन्ध या विशेष वर्णमें अपनी अनुभूति होने (बोध होना) का नाम अनुभव करना है। इसीलिए उपनिषदने कहा है, 'हम पुत्रकी कामना करते हैं इसीलिए पुत्र हमारे लिए प्रिय हो सो बात नहीं, अपनी ही कामना करते हैं इसीलिए पुत्र हमारे लिए प्रिय है। पुत्रमें पिता अपनी ही अनुभूति या उपलब्धि करता है, उस उपलब्धिमें ही आनन्द है।

हम जिसे 'साहित्य' कहते हैं, जिसे 'ललितकला' कहते हैं, उसका लक्ष्य यही उपलब्धिका आनन्द है ; विषयके साथ विषयीके एक हो जानेमें जो आनन्द है वही आनन्द। इस अनुभूतिकी गभीरताके द्वारा बाहरके साथ अन्तरका एकात्मबोध जितना सत्य होता है उतने ही परिमाणमें जीवनमें आनन्दकी

सीमा बढ़ती रहती है, यानी अपनी ही सत्ताकी सीमा। प्रतिदिनके व्यावहारिक व्यापार हमारे आत्म-प्रसारणको छोटे-छोटे भागोंमें अवरुद्ध किये रहते हैं, और मनको बाँध रखते हैं विषय-सम्पत्ति आदि वैषयिक सङ्कीर्णतामें। प्रयोजनका संसार हमें घेरे रखता है अपने कड़े पहरेमें। अवरोधके इस नित्य अभ्यासकी जड़तामें हम भूल जाते हैं कि विशुद्ध विषयी मनुष्य अत्यन्त ही कम मनुष्य है, वह प्रयोजनकी कैंचीसे-छँटा मनुष्य है।

प्रयोजनके दावे अत्यन्त प्रबल हैं और वे असंख्य हैं। कारण, जितना आयोजन हमारे लिए जरूरी है वह अपने परिमाणकी रक्षा नहीं करता। अभाव-मोचन हो जानेके बाद भी तृप्तिहीन कामना हाथ पसारे ही रहती है; और संचयकी भीड़ जम जाती है, सन्धान विश्राम नहीं लेना चाहता। संसारके सभी विभागोंमें यह जो 'चाहिए-चाहिए' का बाजार लगा-हुआ है, इसीके आस-पास मनुष्य ऐसी एक सँध खोजता है जहाँ उसका मन कह सके कि 'नहीं चाहिए', अर्थात् ऐसा कुछ नहीं चाहिए जो सञ्चयके काम आये। इसीसे हम देखते हैं कि प्रयोजनके इतने दबावमें भी मनुष्य अप्रयोजनके उपादान इतने अधिक जमा करता जा रहा है। अप्रयोजनका मूल्य उसके लिए इतना अधिक है। उसका गौरव वहीं है, ऐश्वर्य वहीं है, जहाँ वह प्रयोजनको पीछे छोड़कर आगे बढ़ गया है।

यह तो कहना ही बाहुल्य है कि विशुद्ध साहित्य अप्रयोजनीय है, उसका जो रस है वह अहैतुक है। मनुष्य उस दायित्व-मुक्त वृहत् अवकाशके क्षेत्रमें कल्पनाकी जादूकी-लकड़ी-छुआई-हुई सामग्रीको जाग्रत करके जानता है अपनी ही सत्ताको। उसके उस अनुभवमें अर्थात् स्वयं अपनी ही विशेष उपलब्धिमें उसका आनन्द है। ऐसा आनन्द देनेके सिवा साहित्यका और भी कोई उद्देश्य है, यह मैं नहीं जानता।

लोग कहते हैं, 'साहित्य जो आनन्द देता है वह सौन्दर्यका आनन्द है।' यह बात विचारकर देखने-योग्य है। विश्लेषण करके सौन्दर्य-रहस्यकी व्याख्या करनेकी असाध्य चेष्टा मैं नहीं करूँगा। अनुभूतिके बाहर हम देखते हैं कि सौन्दर्य अनेक तथ्योंपर अर्थात् फैक्ट्सपर अधिकार किये-हुए बैठा है। वे तथ्य सुन्दर भी नहीं, असुन्दर भी नहीं। गुलाबके है विशेष आकार-आयतनकी

कुछ पँखड़ियाँ और डण्ठल, उन्हें घेरे-हुए हैं हरी पत्तियाँ। इन-सबको लिये-हुए ही विराज रहा है इन-सबके अतीत एक ऐक्यतत्त्व, उसीको कहते हैं सौन्दर्य। वह ऐक्य उसको उद्‌बोधित करता है जो मेरा अन्तरतम ऐक्य है, जो मेरा व्यक्तिपुरुष है। असुन्दर सामग्रीका भी प्रकाश है, वह भी एक समग्रता है, एक ऐक्य है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु उसका वस्तु-रूप तथ्य ही मुख्य है, ऐक्य है गौण। गुलाबका आकार-आयतन, उसकी सुषमा और उसके अंगप्रत्यंगोंका पारिस्परिक सामञ्जस्य विशेष-रूपसे निर्देशित कर रहा है उसके समग्रमें परिव्याप्त 'एक'को। इसीलिए गुलाब हमारे लिए मात्र एक तथ्य नहीं, वह सुन्दर है।

किन्तु केवल सुन्दर ही क्यों? कोई भी पदार्थ जो अपने तथ्य-मात्रको अतिक्रम करता है वह मेरे लिए वैसा ही सत्य है जैसा सत्य मैं स्वयं हूँ। मैं स्वयं भी वही पदार्थ हूँ जो बहु-तथ्यको आवृत करके अखण्ड एक है।

उच्च-अङ्कके गणितमें जो एक गभीर सौषम्य है, जो एक ऐक्य-रूप है, निस्सन्देह गणितज्ञ उसमें अपनेको निमग्न कर देता है। उसका सामंजस्यका तथ्य केवल ज्ञानका नहीं, वह निविड़ अनुभूतिका है, उसमें विशेष आनन्द है। कारण, ज्ञानके जिस उच्च-शिखरपर उसका प्रकाश है वहाँ वह सर्वप्रकारके प्रयोजनोंसे मुक्त अर्थात् प्रयोजन-निरपेक्ष है, वहाँ ज्ञानकी मुक्ति है। यहाँ स्वभावतः ही यह प्रश्न मनमें उठता है कि 'यह काव्य-साहित्यका विषय क्यों नहीं हुआ?' नहीं जो हुआ इसका कारण यह है कि इसका अनुभव बहुत थोड़े आदमियोंमें सीमाबद्ध है, सर्व-साधारणके अगोचर है यह। जिस भाषाके योगसे इसका परिचय सम्भव है वह भाषा पारिभाषिक है, बहुत आदमियोंके हृदय-बोधके स्पर्शसे वह सजीव उपादानके रूपमें गठित नहीं हुई है। जो भाषा हृदयमें अव्यवहित आवेगसे प्रवेश नहीं कर सकती उस भाषामें साहित्य-रसकी, साहित्य-रूपकी सृष्टि सम्भव नहीं है। अथच, आधुनिक काव्यमें साहित्यमें कल-कारखानोंने स्थान लेना शुरू कर दिया है। यन्त्रके विशेष प्रयोजनगत तथ्यको अतिक्रम करके उसका एक विराट शक्ति-रूप हमारी कल्पनामें प्रकट हो सकता है; वह रूप अपने अन्तर्निहित सुघटित सुसङ्गतिका अवलम्बन करके अपने उपादानोंके परे आविर्भूत है। कल्पनाकी दृष्टिसे

उसके अङ्ग-प्रत्यङ्गोंकी गभीरतामें मानो उसके एक आत्म-स्वरूपको प्रत्यक्ष किया जा सकता है। वह आत्म-स्वरूप हमारे ही व्यक्ति-स्वरूपका अभिन्न रूप है। जो मनुष्य उसका यान्त्रिक ज्ञानसे नहीं किन्तु अनुभूतिसे एकान्त-रूपसे अनुभव या बोध करता है वह उसमें अपनेको ही पाता है, इञ्जनवाले जहाजका कप्तान अपने जहाजके अन्तरमें जैसे परम अनुरागसे अपने व्यक्तिपुरुषका अनुभव कर सकता है। किन्तु, प्राकृतिक निर्वाचन या योग्यतमका उद्वर्तन-तत्त्व इस जातिका नहीं है। इन-सब तत्त्वोंके जाननेमें निष्काम आनन्द नहीं होता हो सो बात नहीं। किन्तु वह आनन्द 'होनेका आनन्द' नहीं, वह 'पानेका आनन्द' है, अर्थात् वह ज्ञान ज्ञानीसे पृथक् है, वह उसकी व्यक्तिगत सत्ताके अन्तःपुरकी चीज नहीं, भण्डारकी चीज है।

हमारे अलङ्कार-शास्त्रोंने कहा है, 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'। सौन्दर्यमें रस है ; किन्तु ऐसा नहीं कहा जा सकता कि 'सभी रसोंमें सौन्दर्य है।' सौन्दर्य-रसके साथ अन्य सभी रसोंका मेल वहीं है जहाँ वह हमारी अनुभूतिकी चीज है। अनुभूतिके बारह रसके कोई अर्थ ही नहीं। रस-मात्र ही तथ्यपर अधिकार करके उसे अनिर्वचनीय-रूपसे अतिक्रम कर जाता है। रस-पदार्थ वस्तुके अतीत ऐसा एक 'ऐक्य-बोध' है जो हमारे चैतन्यमें मिल जानेमें देर नहीं करता। यहाँ उसका प्रकाश और मेरा प्रकाश दोनों एक ही बात है।

वस्तुकी भीड़के एकान्त आधिपत्यको हलका करनेमें लग गया है मनुष्य। वह अपनी अनुभूतिके लिए अवकाश बना रहा है। इसका एक सहज दृष्टान्त देता हूँ। आदमी घड़ेमें भरकर पानी लाता है, यह 'पानी लाना' उसका दैनन्दिन प्रयोजन है। इसलिए वस्तुका उपद्रव उसे कंधेपर या सिरपर ढोना ही पड़ता है। प्रयोजनका शासन ही यदि एकमात्र हो उठे, तो वह घड़ा हो जाय हमारा अनात्मीय। किन्तु मनुष्यने उसे सुन्दर करके गढ़ा। पानी भरनेके लिए सौन्दर्यके कोई मानी नहीं होते। किन्तु, इस शिल्प-सौन्दर्यने प्रयोजनकी रूढ़ताके चारों तरफ एक अवकाश ला दिया। जिस घड़ेको हमें मजबूरीसे मानना पड़ा था उसे हमने अपना कर लिया। मनुष्यके इतिहासमें आदिम युगसे ही यह चेष्टा चली आ रही है। प्रयोजनकी वस्तुको वह अप्रयोजन का मूल्य देता है, शिल्पकलाकी सहायतासे वह वस्तुको परिणत करता है वस्तुके

अतीतमें। साहित्य-सृष्टि शिल्प-सृष्टि उस प्रलयलोकमें है जहाँ कोई दायित्व नहीं, भार नहीं, जहाँ उपकरण माया है, उसका ध्यान-रूप ही सत्य है, जहाँ मनुष्य अपनेमें सब-कुछ आत्मसात् किये बैठा है।

किन्तु, यदि यह देखना हो कि वस्तुको मजबूरीसे मानकर उसके आगे सिर झुकाना किसे कहते हैं, तो उधर देखो जहाँ मिट्टीके तेलकी टीनमें घटकी स्थापना की गई है, बँहगीके दोनों तरफ कनस्तरोंसे पानी भरनेका काम लिया जा रहा है। यहाँ अभावके आगे मनुष्यका एकान्त पराभव है। जिस मनुष्यने घड़ेको सुन्दर करके बनाया है उस व्यक्तिने झटपट प्यासको ही नहीं मान लिया, उसने काफी समय लिया है अपने व्यक्तित्वको माननेके लिए।

वस्तुकी पृथिवी धूल-मिट्टी और पत्थर-लोहेसे ठसकर पिण्डमें परिणत है। वायुमण्डलने उसके चारों तरफ विराट अवकाशका विस्तार किया है। इसीपर उसके आत्म-प्रकाशकी भूमिका है। यहींसे प्राणोंके लिए निःश्वास बह रहा है। यह प्राण अनिर्वचनीय है। उस प्राण-शिल्पकारकी तूलिका यहींसे प्रकाश लेकर, रंग लेकर, ताप लेकर, चलमान चित्रोंसे बार-बार पृथ्वीके पटको भरे दे रही है। यहीं पृथ्वीकी लीलाकी दिशा है, और यहीं उसकी सृष्टि है। यहीं उसके उस व्यक्ति-रूपका प्रकाश है जिसका विश्लेषण नहीं किया जा सकता, व्याख्या नहीं की जा सकती, जिसमें उसकी वाणी है, उसका यथार्थ्य है, उसका रस है, उसकी श्यामलता है, उसका हिल्लोल है। मनुष्य भी नाना आवश्यक कार्योंकी गरजसे निकलकर अपना एक अलग अकाश-मण्डल चाहता है, जहाँ उसका अवकाश है, जहाँ बिना-प्रयोजनकी लीलासे उसकी अपनी सृष्टिमें अपना प्रकाश ही उसका चरम लक्ष्य है,— जिस सृष्टिमें 'जानना' नहीं, 'पाना' नहीं, केवल 'होना' है। पहले ही कह चुका हूँ कि अनुभवके मानी हैं 'होना'। बाहरकी सत्ताके अभिघातसे उस 'होने'के बोधमें एक बाढ़-सी आ जाती है और उससे मन सृष्टि-लीलामें उद्वेलित हो उठता है। हमें हृदय-बोधकी जरूरत है जीविका-निर्वाहके प्रयोजनसे। हम आत्म-रक्षा करते हैं, शत्रु हनन करते हैं, सन्तान पालन करते हैं; हमारी हृदय-वृत्ति इन-सब कामोंमें वेगका संचार करती है, अभिरुचि जगाती है। इस सीमाके भीतर जन्तुके साथ मनुष्यका कोई प्रभेद नहीं। प्रभेद वहीं हुआ है जहाँ मनुष्य

अपनी हृदयानुभूतिको कार्यकी गरजसे अलग करके कल्पनाके साथ मिला देता है, जहाँ अनुभूतिका रस ही उसके निःस्वार्थ-उपभोगका लक्ष्य है, जहाँ अपनी अनुभूतिको प्रकट करनेकी प्रेरणासे फल-लाभकी आत्यावश्यकताको वह भूला रहता है। यही मनुष्य युद्ध करनेके लिए केवल अस्त्र ही नहीं चलाता, युद्धके बाजे भी बजाता है, युद्धका नाच भी नाचता है। उसकी हिंस्रता जब निदारुण व्यापारके लिए उद्यत होती है तब भी उस हिंस्रताकी अनुभूतिको वह व्यवहार से ऊपर ले जाकर उसे अनावश्यक रूप दे देता है। इससे सम्भव है उसकी सफलतामें वाधा भी पड़े। सिर्फ अपनी सृष्टिमें ही नहीं, विश्व-सृष्टिमें भी वह अपनी अनुभूतिका प्रतीक ढूँढ़ता फिरता है। उसका प्रेम घूमा करता है फूलोंके उपवनमें; उसकी भक्ति तीर्थ-यात्रा करने निकलती है सागर-सङ्गममें, पर्वत-शिखरोंपर। वह अपने व्यक्ति-रूपके अभिन्न सङ्गीको वस्तुमें नहीं पाता, तत्त्वमें नहीं पाता; लीलामयको वह पाता है आकाश जहाँ नील है वहाँ, नव-दूर्वादल श्यामल है वहाँ। फूलोंमें जहाँ सौन्दर्य है, फलोंमें जहाँ मधुरता है, जीवोंमें जहाँ करुणा है, 'भूमा'के प्रति जहाँ आत्म-निवेदन है, वहाँ विश्वके साथ हम अपने व्यक्तिगत सम्बन्धका चिरन्तन योग अनुभव करते हैं हृदयमें। इसीको कहूँगा मैं, 'वास्तव', जिस वास्तवमें सत्य हो गया है मेरा अपना।

जहाँ हम इस 'अपने'को प्रकट करनेके लिए उत्सुक हैं, जहाँ हम अपनेमें अपरिमितकी उपलब्धि करते हैं, वहाँ हम अमितव्ययी हैं, क्या अर्थमें और क्या सामर्थ्यमें। जहाँ हम अर्थको अर्जन करना चाहते हैं वहाँ दमड़ी-दमड़ी के हिसाबके लिए हम उद्विग्न रहते हैं, जहाँ हम सम्पदाको प्रकट करना चाहते हैं वहाँ अपनेको देवालिया कर देनेमें भी सङ्कोच नहीं करते। क्योंकि वहाँ सम्पदाका प्रकाश अपने व्यक्तिपुरुषका ही प्रकाश है। वास्तवमें देखा जाय तो, 'मैं धनी हूँ'– इस बातको उपयुक्त-रूपसे व्यक्त करने-लायक धन संसारमें किसीके पास भी नहीं है। शत्रुके हाथसे प्राण बचाना ही जब उद्देश्य होता है तब देहकी प्रत्येक चाल और प्रत्येक भङ्गिमाके विषयमें अत्यन्त सावधान होना पड़ता है; किन्तु जहाँ अपना साहस दिखाना ही उद्देश्य होता है वहाँ अपने प्राण तक दे देना सम्भव हो जाता है; क्योंकि उस प्रकाशमें ही व्यक्तिपुरुषका प्रकाश है। प्रतिदिनकी जीवनयात्रामें हम खर्च करते हैं विवेचना-पूर्वक, किन्तु

उत्सवके समय जब हम अपने आनन्दको प्रकट करते हैं तब पूँजीकी ससीमताके सम्बन्धमें हमारी विवेचना-शक्ति लुप्त हो जाती है। कारण, जब हम अपनी व्यक्ति-सत्ताके सम्बन्धमें सचेतन होते हैं तब सांसारिक तथ्योंको कुछ गिनते ही नहीं। साधारणत: मनुष्यके साथ व्यवहार करनेमें हम परिमाणकी रक्षा करते हुए ही चलते हैं ; किन्तु, जिसे हम प्यार करते हैं अर्थात् जिसके साथ हमारे व्यक्तिपुरुषका परम सम्बन्ध है उसके सम्बन्धमें हमारा कोई परिमाण ही नहीं रहता। उसके सम्बन्धमें अनायास ही कह सकते हैं :—

"जनम अवधि हम रूप निहारलूँ नयन न तिरपति भेल,
लाख-लाख युग हिये-हिये राखलूँ, तउ हिया जुड़न न गेल।"

तथ्यकी तरफसे इतनी बड़ी अत्युक्ति और-कुछ हो ही नहीं सकती, किन्तु व्यक्तिपुरुषकी अनुभूतिमें 'क्षणकाल'की सीमामें 'चिरकाल' संहत हो सकता है। 'देहकी बयार लगे पाथर बिलाय जात'— वस्तु-जगत्में यह बात अतथ्य है, किन्तु व्यक्ति-जगत्में तथ्यके लिहाजसे इससे कम कुछ कहा जाय तो वह सत्य तक नहीं पहुँचता।

विश्व-सृष्टिमें भी यही बात है। वहाँ वस्तु या जागतिक शक्तिके तथ्यके हिसाबमें एक दमड़ीकी भी भूलचूक नहीं चल सकती। किन्तु सौन्दर्य तथ्यकी सीमाको लाँघ जाता है ; उसके हिसाबमें कोई आदर्श नहीं है, कोई परिमाण नहीं है।

ऊर्ध्व-आकाशके वायु-स्तरमें तैरता-हुआ वाष्पपुंज एक साधारण तथ्य है, किन्तु उदयास्तकालकी सूर्य-किरणोंके स्पर्शसे उसमें जो एक अपरूप वर्णलीलाका विकाश होता है वह असाधारण है। वह 'धूमजोति:सलिलमरुतां सन्निपात:' मात्र नहीं, वह तो मानो प्रकृतिकी एक अकारण अत्युक्ति है, एक परिमित वस्तुगत संवाद-विशेषको मानो वह एक अपरिमित अनिर्वचनीयतामें परिणत कर देती है। भाषामें भी जब प्रबल अनुभूतिका संघात लगता है तब वह शब्दार्थकी आभिधानिक सीमाको लाँघ जाती है।

इसीलिए, भाषा जब कहती है, 'पद-नख ऊपर कोटि चन्द्र दुति लाजै', तब उसे हम पागलपन कहके हँसीमें नहीं उड़ा सकते। अतएव, संसारके प्रात्यहिक तथ्यको ठीक उसी रूपमें कलाकी वेदीपर बिठा देना उसे लज्जित ही

करना है। कारण, कलाके प्रकाशको सत्यका रूप देना हो तो उसमें अतिशयता लगती ही है, किन्तु, विशुद्ध तथ्य उसे नहीं सह सकता। उसे चाहे कितना ही ठीकठाक करके क्यों न कहा जाय, फिर भी, शब्दोंके निर्वाचनमें, भाषाकी भङ्गिमामें और छन्दके संकेतमें ऐसा-कुछ रहता ही है जो 'ठीकठाक'की सीमाको लाँघ जाता है, जो अतिशय है। तथ्यके जगतमें व्यक्ति-स्वरूप वही 'अतिशय' है। काम-काजी व्यवहारके साथ सौजन्यका प्रभेद यहींपर है। काम-काजी व्यवहारमें हिसाबके कामकी ताकीद होती है, और सौजन्यमें होती है अतिशयोक्ति जो व्यक्तिपुरुषकी महिमाकी भाषा है।

प्राचीन ग्रीसकी, प्राचीन रोमकी सभ्यता अब अतीतमें विलीन हो चुकी है। जब वह जीवित थी तब वहाँके लोगोंपर काफी वैषयिक दायित्व था। उनकी आवश्यकताएँ थीं ठोस, निविड़ और भारी ; प्रबल उद्वेग और प्रबल उद्यम उन्हें घेरे-हुए था। आज उसका कोई चिह्न तक नहीं। आज तो सिर्फ वे ही चीजें बच रही हैं जो भारी नहीं थीं, जो वस्तु नहीं थीं, जिनमें दायित्व नहीं था ; और सौजन्यकी अत्युक्तिसे सम्पूर्ण देशने जिनकी अभ्यर्थना की थी,– जैसे कि हम सम्भ्रम-बोधकी परितृप्ति किया करते हैं राजचक्रवर्तीके नामके पहले पाँच 'श्री' लगाकर। देशने उन्हें प्रतिष्ठित किया था अतिशयके शिखरपर, उस निम्नभूमिके समतल-क्षेत्रमें नहीं जहाँ रोजमर्राके व्यवहारकी भीड़ रहती है। मनुष्यके व्यक्ति-स्वरूपका जो परिचय चिरकालके दृष्टिपातको सह लेता है, पत्थरकी रेखाएँ और शब्दकी भाषाएँ उसीकी अभ्यर्थनाको स्थायी रूप और असीम मूल्य देकर रख गई हैं।

जो केवलमात्र स्थानिक है, सामयिक है, वर्तमानकाल उसे चाहे कितना ही प्रचुर मूल्य क्यों न दे, देशकी प्रतिभाकी तरफसे स्वभावतः ही उसे अतिशयका समादर नहीं मिला, जैसे चाँदनी रातमें बहती-हुई नावके इस गीतको मिला है :–

"माझी, तू पतवार थाम रे,
मोसे अब ना खेई जाय।"

अथवा जैसे नाइटिंगेल पक्षीके उस गीतको मिला है जिसे सुनते-सुनते कविने अपनी प्रियासे कहा है :–

Listen Eugenia,
How thick the burst comes crowding through the leaves.

Again – thou hearest ?
Eternal passion !
Eternal pain !

मैं पहले ही कह चुका हूँ, रस-मात्रमें ही अर्थात् सब तरहके हृदय-बोधमें ही हम विशेष-रूपसे अपनेको ही जानते हैं, और उस जाननेमें ही विशेष आनन्द है। यहींपर यह तर्क उठ सकता है कि जिस जाननेमें दुःख है उस जाननेमें भी आनन्द है, यह बात स्वतःविरुद्ध है। दुःखको, भयके विषयको, हम जो परिहार्य समझते हैं उसका कारण यह है कि उससे हमारी हानि होती है, वह हमारे प्राणोंको आघात पहुँचाता है, वह हमारे स्वार्थके प्रतिकूल जाता है। प्राण-रक्षा और स्वार्थ-रक्षाकी प्रवृत्ति हममें अत्यन्त प्रबल है, उस प्रवृत्तिपर जब किसी तरहकी चोट पड़ती है तो वह दुःसह हो उठती है। इसलिए, दुःख-बोधसे हमारा व्यक्तिगत आत्म-बोध उद्दीप्त होनेपर भी, साधारणतः वह हमारे लिए अप्रिय है। यह देखा गया है कि जिस आदमीके स्वभावमें क्षतिका भय या प्राणोंका भय यथेष्ट प्रबल नहीं है, विपत्तिको वह इच्छा-पूर्वक बुलाता है, दुर्गम-पथकी यात्रा करता है, दुःसाध्यमें कूद पड़ता है। क्यों, किस लोभसे? किसी दुर्लभ धनकी प्राप्तिके लिए वह ऐसा नहीं करता, करता है भय-विपत्तिके संघातमें अपनेको ही प्रबल आवेगसे अनुभव करनेके लिए। बहुतसे बच्चोंको निष्ठुर होते देखा गया है, कीट-पतङ्ग-पशुओंको यंत्रणा देनेमें वे तीव्र आनन्द अनुभव करते हैं। श्रेयोबुद्धिके प्रबल होनेपर ऐसा आनन्द सम्भव नहीं होता ; तब श्रेयोबुद्धि बाधाके रूपमें काम करती है। स्वभावतः या अभ्यासवश इस बुद्धिके ह्रास होते ही देखा जाता है कि हिंस्रताका आनन्द अत्यन्त तीव्र हो उठा है। इतिहासमें इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं ; और जेलखानोंके एक श्रेणीके कर्मचारियोंमें ऐसे दृष्टान्त निश्चय ही दुर्लभ नहीं हैं। निन्दुकोंको जो पराई निन्दा करनेमें आनन्द मिलता है वह ऐसी ही हिंस्रताका अहैतुक आनन्द है। अपनी किसी विशेष क्षतिकी उत्तेजनामें ही वे निन्दा करते हों सो बात नहीं। जिसे वह जानता नहीं, जिसने उसका कोई अपकार नहीं किया, उसके नामपर अकारण कलङ्क आरोप करनेमें जो निःस्वार्थ दुःख-जनकता है, ये निन्दुक दल-बलके साथ निन्दा-साधनाके भैरवी-चक्रमें बैठकर उसीका उपभोग किया करते हैं। यह काम निष्ठुर है, जघन्य है, किन्तु तीव्र

है इसका आस्वादन। जिसके प्रति हम उदासीन हैं वह हमें सुख नहीं देता, किन्तु हमारा निन्दाका पात्र हमारी अनुभूतिको प्रबलतासे उद्दीप्त किये रखता है। इसीसे इसका कारण सहजमें समझा जा सकता है कि पराये दुःखको उपभोग्य सामग्री बना लेना मनुष्य-विशेषके लिए क्यों विलासके अङ्गमें शामिल है और क्यों भैंसे-जैसे विशालकाय प्रबल पशुको वलि चढ़ानेके साथ-साथ रक्त-रंजित उन्मत्त नृत्य सम्भव हो सकता है। दुःखके अनुभवसे हमारी चेतना आलोड़ित हो उठती है। दुःखके कटु स्वादसे दोनों आँखोंसे आँसू गिरते रहनेपर भी वह उपादेय है। दुःखकी अनुभूति सहज सुख-बोधकी अपेक्षा प्रबल होती है। ट्रैजिडी (दुःखान्तक) का मूल्य इसी बातको लेकर है। कैकेयीकी प्ररोचनासे रामचन्द्रका निर्वासन हुआ, मन्थराको उल्लास हुआ, दशरथकी मृत्यु हुई,– इनमें अच्छी एक भी बात नहीं। सहज भाषामें जिसे हम 'सुन्दर' करते हैं, इनमेंसे कोई भी घटना उसके समकोटिकी नहीं, यह बात माननी ही पड़ेगी। फिर भी इन घटनाओंको लेकर कितने काव्य, कितने नाटक, कितने चित्र, कितने गीत युगोंसे चले आ रहे हैं; कितनी भीड़ जमती रही है; और सबको उसमें आनन्द मिलता है। कारण, वेगवान अभिज्ञतामें व्यक्तिपुरुषकी प्रबल आत्मानुभूति इसीमें है। आबद्ध जल जैसे मूक है, उमसकी हवा जैसे आत्मपरिचयहीन है, ठीक उसी तरह प्रतिदिनके अधमरे अभ्यासकी एकरुखी आवृत्ति चेतनापर ऐसी चोट नहीं करती रहती जिससे सत्ता-बोध निस्तेज हुआ रहता है। इसीसे दुःखमें संकटमें विद्रोहमें विप्लवमें अप्रकाशके आवेशको दूर करके मनुष्य अपनेको प्रबल आवेगमें अनुभव करना चाहता है।

किसी समय यही बात मैंने अपनी एक कवितामें लिखी थी। कहा था, "मेरे अन्तरका 'मैं' आलस्यसे आवेशसे विलासके प्रश्रयमें सो जाता है। निर्दय आघातसे उसकी जड़ताको दूर करके उसे जगाकर ही मैं अपने 'मैं' को निविड़तासे पाता हूँ, उस पानेमें ही आनन्द है।"

"अब तक रक्खा बहुत जतन कर
उसे शयनपर;
कहीं चोट लग जाय, दुःख हो,
इसीलिए निशि-दिन तत्पर हो

रचता रहा सुहाग-सेज फूलोंसे भर-भर,
बड़े जतनसे रहा छिपाये द्वार बन्द कर
　　　　घरके अन्दर।
(और अन्तमें) श्रान्त प्राण आलस-रस पीकर
　　　　सुख-शय्यापर,
नहीं जगायेसे अब जगता,
सुमन-हार दूभर-सा लगता,
एकाकार सुषुप्ति जागरणमें निशि-वासर;
व्यथा-हीन निष्क्रिय विरागसे भरता अन्तर
　　　　नवावेश भर।
(इसीलिए) कुछ नया खेल सोचा है मनमें
　　　　निशा विजनमें।
मरण - दोलकी डोरी धरकर
बैठेंगे दोनों सट-सट कर,
अट्टहास हँस पेंग भरेगी झंझा क्षणमें,
प्राण और हम दोनों झूलेंगे निर्जनमें,
　　　　निशा विजनमें।"

हमारे शास्त्र कहते हैं :—

"तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथाः।"

'उस वेदनीय पुरुषको जानो, जिससे मृत्यु तुम्हें व्यथा न दे।'

वेदना अर्थात् हृदय-बोधसे ही जिन्हें जाना जाता है, जानो उस पुरुषको, अर्थात् पर्सनैलिटीको। मेरा व्यक्तिपुरुष जब अव्यवहित अनुभूतिसे असीम पुरुषको जानता है हृदा-मनीषा-मनसा, तब उसमें निःसंशय-रूपसे अपनेको ही जानता है। तब क्या होता है? मृत्यु अर्थात् शून्यताकी व्यथा जाती रहती है, क्योंकि वेदनीय पुरुषका बोध पुरुषका बोध है, शून्यताके बोधके विरुद्ध।

इस आध्यात्मिक साधनाकी बातको ही साहित्यके क्षेत्रमें उतार लाया जा सकता है। जीवनमें शून्यता-बोध हमें व्यथा देता है, सत्ता-बोधकी म्लानतामें इस संसारमें ऐसा-कुछ अभाव होता है जिससे हमारी अनुभूतिकी चेतना नहीं

जागती ; जहाँ हमारे व्यक्ति-बोधको जाग्रत रखनेके योग्य ऐसी कोई वाणी नहीं जो स्पष्ट भाषामें कह रही हो 'मैं हूँ'। विरहकी शून्यतामें शकुन्तलाका मन जब अवसादग्रस्त था तब उसके द्वारपर ध्वनि उठी थी, 'अयमहं भो।' 'यह हूँ मैं।' यह वाणी पहुँची ही नहीं उसके कानों तक, इसीसे उसकी अन्तरात्मा उत्तर नहीं दे सकी कि 'मैं भी हूँ।' यहीं उसके लिए दुःखका कारण हुआ। संसारमें 'मैं हूँ'-यह वाणी यदि स्पष्ट रहे, तभी अपने भीतरसे उसका निश्चित उत्तर मिलता है, 'मैं हूँ।' 'मैं हूँ'- यह वाणी कैसे प्रबल स्वरमें ध्वनित होती है? ऐसे सत्यसे होती है जिसमें रस परिपूर्ण है। अपने अन्तरमें व्यक्तिपुरुषको तभी हम निविड़तासे अनुभव करते हैं जब अपने बाहर रसात्मक रूप हमारे गोचर होता है। इसीसे बाउल गाता फिरा है :–

"पाऊँ कहाँ मैं वाकौं रे, जो मनकौ मीत हमारौ रे!"

क्योंकि, अपने मनके मीतको ही एकान्त-रूपसे पानेके लिए परम मनुष्य चाहिए, चाहिए 'तं वेद्यं पुरुषं', तब फिर शून्यता व्यथा नहीं देती।

मनुष्यके पेट भरनेके लिए, जीवन-यात्राके अभाव मिटानेके लिए, नाना विद्याएँ हैं, नाना चेष्टाएँ हैं ; मनुष्यकी शून्यताको भरनेके लिए, उसके मनके मीतको नाना भावोंमें नाना रसोंमें जगाये रखनेके लिए है उसका साहित्य, उसका शिल्प। मनुष्यके इतिहासमें इसका स्थान कैसा विशाल है! इसका परिमाण कैसा प्रचुर है! सभ्यताके किसी प्रलय-भूकम्पमें यदि इसका विलोप सम्भव हो जाय तो मनुष्यके इतिहासमें कैसी विराट शून्यता काली-मरुभूमिकी तरह व्याप्त हो जायगी! मनुष्यकी 'कृष्टि'का क्षेत्र है उसकी खेती-बारीमें, उसके दफ्तर-कारखानोंमें ; उसकी संस्कृतिका क्षेत्र है साहित्यमें ; यहाँ उसकी अपनी ही संस्कृति है, उसमें वह अपनेको ही सम्यक्‌रूपसे गढ़ रहा है, उसमें वह स्वयं ही 'हो उठता है'। 'ऐतरेय ब्राह्मण' में इसीलिए कहा है, "आत्मसंस्कृतिर्वाव शिल्पानि।"

कक्षा-घरकी दीवारपर माधवने एक लड़केके नामपर बड़े-बड़े अक्षरोंमें लिख रखा है, 'राखाल बन्दर है'। बहुत ज्यादा क्रोध आया है उसे। इस क्रोधके विषयकी तुलनामें और-सभी लड़के उसके लिए अपेक्षाकृत अगोचर हैं। अस्तित्वके लिहाजसे राखाल कितना बड़ा हो गया है, यह अक्षरोंके

आकारसे ही पता चल जाता है। माधवने अपनी स्वल्प शक्तिके अनुसार अपने क्रोधकी अनुभूतिको अपनेसे अलग करके उससे दीवारपर काले अक्षरोंका ऐसा एक रूप खड़ा कर दिया है जो खूब बड़े रूपमें जता रहा है कि 'माधवको गुस्सा आ गया है, माधव उसे समस्त जगतके समक्ष गोचर करना चाहता है।' इसे गीति-कविताका एक 'वामन अवतार' कहा जा सकता है। माधवके भीतर जो अपरिणत पंगु कवि है उसकी कलम 'राखालके साथ वानरकी उपमा'से अधिक आगे नहीं बढ़ सकी। वेदव्यासने यही बात लिखी है 'महाभारत'के पन्नोंमें शकुनिके नामपर। उसकी भाषा स्वतन्त्र है। इसके सिवा उसके कोयलेके अक्षर कभी मिटेंगे नहीं, चाहे उसपर कितना ही पलस्तर क्यों न किया जाय। पुरातत्त्वविद् नाना साक्षियोंके जोरसे प्रमाणित कर सकते हैं कि शकुनि नामका कोई व्यक्ति किसी कालमें नहीं हुआ। हमारी बुद्धि भी उस बातको मान लेगी; किन्तु, हमारी प्रत्यक्ष अनुभूति साक्षी देगी कि वह निश्चित-रूपसे है। कविकङ्कणका भाँड़ूदत्त भी तो बन्दर था। कविकङ्कणने यह बात काले अक्षरोंमें घोषणा कर दी है। किन्तु, इन बन्दरोंके प्रति हमारे जो अवज्ञाका भाव है वह भाव ही उपभोग्य है।

हमारे देशमें एक प्रकारका साहित्य-विचार देखनेमें आता है जिसमें नाना अवान्तर कारण दिखाकर साहित्यकी इस प्रत्यक्ष-गोचरताका मूल्य घटाया जाता है। सम्भव है कोई मानव-चरित्रज्ञ कहते हों कि शकुनिके समान ऐसी अविमिश्र दुर्वृत्तता स्वाभाविक नहीं, उसमें भी अहैतुक विद्वेष-बुद्धिके साथ-साथ महद्गुण होने चाहिए थे।' उनका कहना है, 'चूँकि कैकयी या लेडी मैकबेथ हिड़िम्बा या शूर्पनखा नारी हैं, माकी जाति, इसलिए उनके चरित्रोंमें ईर्षा या कुत्सित-कदाशयताकी इतनी निविड़ कालिमा पोतना अश्रद्धेय है।' साहित्य की ओरसे कहनेकी बात यह है कि यहाँ अन्य कोई तर्क ही ग्राह्य नहीं, केवल इतना जवाब मिल जाना ही पर्याप्त है कि जिन चरित्रोंकी अवतारणा हुई है वे सृष्टिकी कोटिमें पहुँच चुकी हैं, वे प्रत्यक्ष हैं। किसी-एक खयालमें आकर सृष्टिकर्ताने 'जिराफ'-जैसे जन्तुकी रचना कर डाली। उनके समालोचक कह सकते हैं, 'इसकी गरदन न तो गाय-जैसी है और न हरिण-जैसी, और भालू जैसी तो कतई नहीं, इसके पश्चाद्भाग-जैसा ढालू ढाँचा साधारणतः चतुष्पद-

समाजमें पाया ही नहीं जाता, लिहाजा, इत्यादि।' इन समस्त आपत्तियोंके विरोधमें केवल एक ही जवाब है, वह यह कि 'यह जन्तु जीव-सृष्टि-पर्यायमें सुस्पष्ट प्रत्यक्ष है। वह कह रहा है 'मैं हूँ'। 'न होना ही उचित था' कहना टिक नहीं सकता। जिसे हम सृष्टि कहते हैं उसका निःसंशय प्रकाश ही उसके अस्तित्वकी चरम कैफियत है। साहित्यकी सृष्टिके साथ विधाताकी सृष्टिका यहीं मेल है ; उस सृष्टिमें ऊँट-जन्तु हुआ है इसीलिए 'हुआ है' ; शुतुरमुर्गके लिए भी 'होने'के सिवा और-कोई जवाबदेही नहीं।

मनुष्य भी शिशुकालसे यह आनन्द पाता आ रहा है, प्रत्यक्ष वास्तवताका आनन्द। इस वास्तवताका अर्थ ऐसा नहीं कि 'जो सदा-सर्वदा हुआ करता है' या 'जो युक्ति-संगत है'। किसी भी रूपको लेकर जो स्पष्टतासे चेतनाका स्पर्श करता है वही वास्तव है।

छन्द भाषा भङ्गिमा या इङ्गित जब उस वास्तवताको जगा देता है तब वह भाषामें रचित एक शिल्प-वस्तु हो उठती है। उसका कोई व्यावहारिक अर्थ भले ही न हो, किन्तु उससे ऐसा एक-कुछ प्रकट होता है जो tease us out of thought as doth eternity है।

"उस पार नदीके काला रंग,
पानी बरसे झम - झम - झम।
इस पार नदीके लाल-मिर्चका पौधा लाल,
बहन गुणवती, कुछ मत पूछो मनका हाल।"

इसका विषय अत्यन्त साधारण है। किन्तु छन्दके झूलेमें पेंग लगते ही यह मानो स्पर्श-योग्य चीज बन गई है।

"चढ़ भालूपर बन्दर नाचे,
डम-डम डम-डम डमरू बाजे।"

इसे सुनते ही बच्चा खुश हो उठता है। यह एक सुस्पष्ट चालू चीज है, मानो छन्दमें गढ़ा पतंगा हो। वह है, वह उड़ता है, और-कुछ नहीं,—इसीमें कौतुक है।

इसीसे शिशुकालसे मनुष्य कह रहा है, 'कहानी सुनाओ।' इस कहानीको कहते हैं 'रूपकथा'। रूप-कथा ही तो है वह। उसमें न तो ऐतिहासिक तथ्य

रह सकता है, और न आवश्यक संवाद। सम्भवपरताके सम्बन्धमें भी उसके पास कोई कैफियत नहीं। वह कोई भी एक रूप खड़ा कर देता है मनके सामने, और उसके प्रति उत्सुकता जगा देता है, जो शून्यताको दूर कर देती है; वह वास्तव है। एक कहानी शुरू करता हूँ :—

कहीं एक था लग्घड़-वाघ,
तनपर उसके काले दाग।
आ धमका वह घरके अन्दर,
नौकरको खानेको तत्पर।
पड़ी नजर ऐनेपर जाकर,
भाग गया नौकर अपने घर।
ऐनेमें जो देखी सूरत,
लग्घड़ बिगड़ा उसी मुहूरत।
कुरूप अपना उसे न भाया,
आ गुस्सेमें वह गुर्राया,—
"मेरे तनपर धब्बे काले!
किसने डाले, किसने डाले!
खा जाऊँ मैं उसको कच्चा,
आये तो वह खरका बच्चा!"
बाहर था ढेंकीका थान,
कूट रही थी मौसी धान।
लग्घड़ पहुँचा उसके पास,
बात नहीं थी कोई खास।
लग्घड़ बोला करके कोप,—
"जल्दी ला दे गिलसरिन-सोप!"

छोटी-सी लड़की आँखें फाड़कर मुँह बाये सब सुनती है। मैं कहता, 'बस आज यहीं तक।' वह अस्थिर होकर कहती, 'नहीं, फिर क्या हुआ बताओ।' वह निश्चित जानती है कि साबुनकी अपेक्षा जो साबुन लगाते हैं उन्हींपर बाघका लोभ ज्यादा है; फिर भी, सम्पूर्ण असम्भव कहानी

उसके लिए सम्पूर्ण वास्तव है, प्राणी-वृत्तान्तका बाघ उसके लिए कुछ भी नहीं। ऐनेमें अपनी परछाईंसे आतङ्कित उस पागल बाघको अपने सम्पूर्ण अन्तःकरणसे अनुभव करनेमें ही वह खुश हो उठी है।

इसीको कहते हैं 'मनकी लीला', वस्तुके बिना ही इसकी सृष्टि है, इसीमें आनन्द है।

सुन्दरको प्रकट करना ही रस-साहित्यका एकमात्र लक्ष्य नहीं है, यह मैं पहले ही कह चुका हूँ। सौन्दर्यकी अभिज्ञताका एक स्तर है, और वहाँ सौन्दर्य अत्यन्त सहज है। फूल सुन्दर है, तितली सुन्दर है, मोर सुन्दर है। यह सौन्दर्य इकमंजिले मकान-जैसा है, इसमें बाहरी बैठक और अन्तःपुरका रहस्य नहीं है, यह एक निमेषमें ही पकड़में आ जाता है, यह साधनाकी अपेक्षा नहीं रखता। किन्तु, इस प्राणके कोठेमें जब मनका दान मिल जाता है और चरित्रका संस्पर्श होता है तब इसकी परिधि बढ़ जाती है, तब फिर सौन्दर्यका विचार सहज नहीं होता। जैसे मनुष्यका मुख। यहाँ सिर्फ आँखोंसे देखकर तुरत फैसला दे देनेसे गलती होनेकी आशङ्का रहती है। यहाँ सहज आदर्शसे जो असुन्दर है उसे भी मनोहर कहना असम्भव नहीं। यहाँ तक कि साधारण सौन्दर्यसे भी उसकी आनन्द-जनकता गभीरतर हो सकती है। ठुमरीका टप्पा सुनते ही मन चञ्चल हो उठता है, और टोड़ीका चौताल चैतन्यको उद्बुद्ध करता है। 'ललितलवङ्गलतापरिशीलन' मधुर हो सकता है, किन्तु 'वसन्तपुष्पाभरणं वहन्ती' मनोहर है। एक कानकी चीज है, दूसरी मनकी। एकमें चरित्र नहीं है, लालित्य है, और दूसरीमें चरित्र ही प्रधान है। उसे पहचाननेके लिए अनुशीलनकी आवश्यकता नहीं होती।

जिसे हम 'सुन्दर' कहते हैं उसकी सीमा संकीर्ण है, और जिसे 'मनोहर' कहते हैं वह बहुदूर-प्रसारित है। मनको बहलानेके लिए उसे असाधारण नहीं होना पड़ता, साधारण होनेपर भी वह विशिष्ट है। जिसे हम देखा करते हैं, ठीक उसीको भाषा यदि हूबहू हमारे आगे उपस्थित करे, तो उसे मैं कहूँगा, 'संवाद'। किन्तु, हमारी उस साधारण अभिज्ञताकी वस्तुको ही साहित्य जब विशेष-रूपसे हमारे सामने उपस्थित करता है तब वह आता है अभूतपूर्व होकर, तब वह होता है एकमात्र, अपनेमें आप स्वतंत्र। संतानके स्नेहमें कर्तव्यविस्मृत

मनुष्य बहुतेरे देखनेमें आते हैं, 'महाभारत'में धृतराष्ट्र हैं उसी 'अतिसाधारण' विशेषणको लिये हुए। किन्तु राज्याधिकारसे वंचित ये अंधे राजा कवि-लेखनी के नाना सूक्ष्म स्पर्शसे दिखाई दिये हैं सम्पूर्णतः एक होकर। मोटे गुणको लिये-हुए उनके समजातीय व्यक्ति बहुत हैं, किन्तु संसारमें धृतराष्ट्र अद्वितीय हैं। इस मनुष्यकी एकान्तता उसके विशेष व्यवहारमें नहीं है, किसी आंशिक परिचयमें नहीं है, समग्र-रूपमें है। कविके सृष्टि-मन्त्रसे प्रकाशित उनका यह अनन्य-सदृश स्वकीय रूप प्रतिभाके किस सहज नैपुण्यमें सम्पूर्ण हो उठा है, क्षुद्र समालोचककी विश्लेषणी-लेखनी उसका अन्त नहीं पा सकती।

संसारमें अधिकांश पदार्थ प्रत्यक्षतः हमारे लिए साधारण-श्रेणीभुक्त हैं। रास्तेसे हजारों आदमी चलते हैं ; उनमेंसे प्रत्येक ही यद्यपि विशेष आदमी है, फिर भी हमारे लिए वे साधारण मनुष्यमात्र हैं, एक विशाल साधारणताके आस्तरणसे वे ढके-हुए हैं, वे अस्पष्ट हैं। अपने-आपमें मैं सुनिश्चित हूँ, मैं विशेष हूँ ; किन्तु, दूसरा कोई अपनी विशिष्टता लेकर हमारे सामने आता है तो उसे हम अपने ही सम-पर्यायमें स्थान देते हैं, और आनन्दित होते हैं।

यहाँ एक बात स्पष्ट कर देना जरूरी है। मेरा धोबी मेरे लिए सत्य है इसमें सन्देह नहीं, और उसका अनुवर्ती जो बाहन है वह भी। धोबी होनेसे ही प्रयोजनके योगसे वह मेरे अत्यन्त निकट है, किन्तु, मेरे व्यक्ति-पुरुषकी सम्यक् अनुभूतिके बाहर है।

पहले अन्यत्र कहीं यह कह चुका हूँ कि जिस-किसी पदार्थके साथ हमारे व्यवहारका सम्बन्ध ही मुख्य है वह पदार्थ साधारण-श्रेणीमें आ जाता है, उसकी विशिष्टता हमारे लिए अगोचर हो जाती है। कवितामें प्रवेश पानेमें सहिजनके फूलको जो देर लगी है वह इसीलिए कि उसे हम जानते हैं भोज्यके रूपमें, एक मामूली साग-तरकारीके रूपमें। कुम्हड़ेका फूल भी अभी तक काव्यके द्वार तक नहीं आ पाया। सफेद-जामुनका फूल शिरीष-फूलकी अपेक्षा अयोग्य नहीं है, किन्तु उसकी तरफ जब नजर दौड़ाता हूँ तो देखता हूँ कि वह अपने चरम रूपमें प्रकाशित नहीं है ; उसके परवर्ती-पर्यायमें खाद्य-फलके पूर्व-परिचयके रूपमें मैं उसे देखता हूँ। उसकी अपनी ही विशिष्टताकी घोषणा यदि उसमें मुख्य होती तो अब तक वह काव्यमें आदर पा जाता।

मुरगीका सौन्दर्य हमारे साहित्यमें क्यों अस्वीकृत है, यह बात जरा विचार करनेसे ही समझी जा सकती है। हमारा चित्त इन्हें उन्हींके स्वरूपमें नहीं देखता, और-कुछके साथ मिलाकर उससे आवृत करके देखता है।

जिन लोगोंने मेरी कविता पढ़ी है उनके आगे पुनरुक्ति होनेपर भी एक संवाद यहाँ दिया जा सकता है। मैं था एक गाँवमें, वहाँ मेरा एक नौकर था, उसकी बुद्धि या चेहरा ध्यान देने-लायक नहीं था। रातको वह घर चला जाता और सवेरे आकर झाड़न कँधेपर रखके काम-काज करता। उसमें मुख्य गुण यह था कि वह ज्यादा बोलता न था। 'वह है' इस तथ्यका अनुभव हुआ मुझे उस दिन जिस दिन वह अनुपस्थित रहा। सवेरे देखा कि नहानेका पानी नहीं भरा गया, झाड़-पोंछ सब बन्द है। वह आया दस बजेके करीब। मैंने जरा-कुछ रूढ़ स्वरमें उससे कहा, 'कहाँ था अब तक?' उसने कहा, 'मेरी लड़की जाती रही कल रातको।' इतना कहकर वह तुरत अपने कामसे लग गया। मेरी छाती धक् हो गई। नौकरके रूपमें वह था प्रयोजनीयताके आवरणमें, उसका आवरण उठ गया ; लड़कीके बापके रूपमें उसे देखा तो मेरे साथ उसके स्वरूपका मेल हो गया ; वह हो उठा प्रत्यक्ष, हो उठा विशेष।

सुन्दरके हाथमें विधाताका 'पार-पत्र' है ; सर्वत्र ही उसका प्रवेश सहज है। किन्तु, यह जो मोमिन मियाँ है, इसे क्या कहूँ? सुन्दर तो नहीं कहा जा सकता उसे। लड़कीके बाप भी तो संसारमें असंख्य हैं ; यह जो साधारण तथ्य है, यह सुन्दर भी नहीं, असुन्दर भी नहीं। किन्तु, उस दिन करुण-रसके संकेतसे वह ग्रामीण आदमी मेरे 'मनके आदमी' से मिल गया। प्रयोजनकी चहारदीवारीको लाँघकर कल्पनाकी भूमिकामें मोमिन मियाँ मेरे लिए हो गया वास्तव।

लखपतीके घर मझली लड़कीका ब्याह है। ऐसी धूम है कि मुहल्लेके अतिवृद्ध भी कह उठे, अभूतपूर्व है! उसकी घोषणाकी तरंग समाचारपत्रोंकी संवाद-वीथिकामें उद्वेलित हो उठी। जनश्रुतिके कोलाहलमें घटना चाहे कितनी ही जबरदस्त क्यों न दिखाई दे, फिर भी, यह बहु-व्यय-साध्य विपुल समारोह भी उसे 'कन्याका विवाह' शीर्षक संवादकी नितान्त साधारणतासे ऊपर नहीं उठा सकता। अपनी सामयिक उन्मुखताके जोरसे यह विवाह स्मरणीय नहीं

हो जाता। किन्तु 'कन्याका विवाह' नामकी अत्यन्त साधारण घटनाको उसकी सामयिक और स्थानिक आत्म-प्रचारकी आशु-म्लानतासे निकालकर यदि कोई कवि अपनी भाषा और छन्दसे दीप्तिमान साहित्यकी सामग्री बना दे, तो वह विवाह प्रतिदिन हजारों-लाखों लड़कियोंके विवाहके कुहरेको भेदकर एक अद्वितीय विवाहके रूपमें दिखाई देगा,– जैसा विवाह 'कुमारसम्भव' की उमाका हुआ है वैसा, 'रघुवंश'की इन्दुमतीका हुआ है वैसा।

सङ्कोपञ्जा डनक्विकसोटका नौकर ही तो था। संसारके प्रवहमान तथ्यपुञ्जमें रूपान्तर कर देनेसे वह नजर ही में न आयेगा,–तब फिर हजारों-लाखों नौकरोंकी साधारण पंक्तिमें खड़ा करके उसकी शिनाख्त कौन करेगा? डनक्विकसोटका वह नौकर आज चिरकालिक मनुष्यके लिए चिरकालिक परचित हो गया है, सभीको दे रहा है वह अपनी एकान्त प्रत्यक्षताका आनन्द। अब तक भारतके जितने बड़े-लाट हुए हैं उन-सबोंके जीवन-वृत्तान्त मिलाने पर भी इस नौकरके आगे वे निष्प्रभ हैं। बड़े-बड़े बुद्धिमान राजनीतिक दलोंने मिलकर अस्त्र-शस्त्रोंकी कमी करनेके लिए आज जो बाद-वितण्डा खड़ा किया है, तथ्यके हिसाबसे वह बड़ा-भारी एक तथ्य है; किन्तु, युद्धमें पंगु-हुए केवल एक ही सैनिकका जीवन जिस वेदनासे भरा है उसे सुस्पष्ट प्रकाशमान कर देनेसे सभी कालका मनुष्य राष्ट्रनीतिकोंकी गम्भीर मन्त्रणा-गवेषणाकी अपेक्षा उसीको प्रधान स्थान देगा। यह बात हम निश्चित-रूपसे जानते हैं कि जिस समय 'शकुन्तला'की रचना हुई थी उस समय राष्ट्रिक और आर्थिक अनेक समस्याएँ उठी थीं, जिनका गुरुत्व उस कालमें अत्यन्त उद्वेगजनक था; किन्तु, उन सबका आज चिह्न तक नहीं रहा; है केवल 'शकुन्तला'।

मानवका सामाजिक जगत् स्वर्गलोकके छाया-पथके समान है। उसका अधिकांश ही नानाप्रकारके अवच्छिन्न तत्त्वोंकी (ऐब्स्ट्रक्शनकी) बहु-विस्तृत नीहारिकासे अवकीर्ण है; जिनके नाम हैं समाज, राष्ट्र, नेशन, वाणिज्य और और-भी न-जाने क्या-क्या! उनकी रूपहीनताके कुहरेसे व्यक्तिगत मानवकी वेदनामय वास्तवता आच्छन्न हो रही है। 'युद्ध' नामक केवल एक ही विशेष्यके नीचे हजारों-लाखों व्यक्ति-विशेषोंके हृदयदाहक दुःख-कष्टोंके जलते-हुए

अङ्गारे वास्तवताके अगोचरमें भस्मके भीतर दबे पड़े हैं। 'नेशन' या 'राष्ट्र' नामक एक शब्दने दबा रखे हैं संसार-भरके पाप और विभीषिकाएँ, जिनका आवरण उठा दिया जाय तो मनुष्यके लिए अपनी लज्जा रखनेके लिए कहीं जगह ही न मिले। 'समाज' नामक पदार्थने इतनी विचित्र प्रकारकी मूढ़ता और दासताकी जंजीरें गढ़ डाली हैं जिनकी स्पष्टता हमारी दृष्टिसे ओझल ही बनी रहती है। कारण, 'समाज' ऐसा एक अवच्छिन्न तत्त्व है जिसने मनुष्यकी वास्तवताके बोधको हमारे मनमें अचेतन कर रखा है। इस अचेतनताके विरुद्ध लड़ना पड़ा है राममोहन रायको, विद्यासागरको। 'धर्म'-शब्दकी मोह-यवनिकाके अन्तरालमें ऐसे-ऐसे निदारुण कृत्य हुआ करते हैं जो समस्त शास्त्र-वर्णित समस्त नरककी दण्डविधिको चुनौती दे सकते हैं। स्कूलोंमें 'क्लास' नामक एक अवच्छिन्न तत्त्व है ; वहाँ व्यक्तिगत छात्र अगोचर रहता है श्रेणीगत साधारणताके अन्तरालमें, और इसीलिए जब उनका 'मन' नामक सजीव पदार्थ रटन्त-विद्याके पेषणसे ग्रन्थोंके पन्नोंमें मसले-हुए फूलकी तरह सूखता रहता है तब हम रहते हैं उदासीन। सरकारमें 'कर्मचारी-तन्त्र' नामक एक अवच्छिन्न तत्त्व है मनुष्यके व्यक्तिगत सत्य-बोधके बाहर ; और इसीलिए, राष्ट्र-शासनके 'हार्दिक सम्बन्ध-हीन' नामके नीचे विराट् आयतनकी निर्दयता कहीं भी रोके नहीं रुकती।

मानव-चित्तकी इन-सब विराट निश्चेतनताके कुहरेमें भी वेदना-बोधकी विशिष्टताको साहित्यने देदीप्यमान कर दिया है। रूपमें ये-सब सृष्टियाँ ससीम हैं, किन्तु व्यक्तिपुरुषके आत्म-प्रकाशमें सीमातीत हैं। यह व्यक्ति-पुरुष मनुष्यका अन्तरतम ऐक्य-तत्त्व है ; और यही मनुष्यका चरम रहस्य है। यह मनुष्यके चित्तके केन्द्रसे विकीर्ण होकर विश्व-परिधिमें परिव्याप्त है ; यह उसकी देहमें है, किन्तु देहको उत्तीर्ण करके ; उसके मनमें है, किन्तु मनको अतिक्रम करके ; यह उसके वर्तमानपर अधिकार करके अतीत और भवि-ष्यत्के उपकूलोंको प्लावित करता-हुआ चलता चला जा रहा है। यह व्यक्ति-पुरुष प्रतीयमान-रूपसे जिस सीमामें अवस्थित है, सत्य-रूपमें उससे आगे बढ़ा जा रहा है ; कहीं भी रुकना ही नहीं चाहता। इसीसे यह अपनी सत्ताके प्रकाश को ऐसा रूप देनेके लिए उत्कण्ठित है जो रूप आनन्दमय है, जो मृत्युहीन है।

इन-समस्त रूप-सृष्टियोंमें व्यक्तिके साथ विश्वकी एकात्मता है। इन सृष्टियोंके द्वारा व्यक्तिपुरुष परमपुरुषकी वाणीका प्रत्युत्तर भेज रहा है, जो परमपुरुष आलोकहीन तथ्यपुञ्जके अभ्यन्तरसे हमारी दृष्टिके आगे अपने प्रकाशको निरन्तर उद्भासित कर रहा है सत्यके असीम रहस्यमें, उद्भासित कर रहा है सौन्दर्यकी अनिर्वचनीयतामें।

कलकत्ता - विश्वविद्यालयमें
पठित भाषण : चैत्र १९९०

—

साहित्यका तात्पर्य

उद्भिद्की दो श्रेणियाँ हैं, एक ओषधि और दूसरी वनस्पति। ओषधि क्षणकालकी फसल फलाते-फलाते क्षणमें जन्मती है और क्षणमें मर जाती है। वनस्पतिकी आयु दीर्घ है; और उसकी देह विचित्र-रूपसे आकृतिवान है, शाखायित है उसका विस्तार।

भाषाके क्षेत्रमें भी प्रकाश दो श्रेणीका है; एकसे प्रतिदिनका प्रयोजन सिद्ध होते-होतेमें ही वह लुप्त हो जाता है, क्षणिक व्यवहारके संवाद-वहनमें ही उसकी समाप्ति है; और दूसरी श्रेणीका जो प्रकाश है वह उसके अपने ही भीतर है। वह दैनिक आशु-प्रयोजनोंकी क्षुद्र सीमामें निःशेष होते-होते विलीन नहीं होता। वह शाल-तमालवृक्षोंके समान है, जल्दी फसल वसूल करके उसे बरखास्त नहीं किया जा सकता। अर्थात्, वह कालके स्थायी क्षेत्रमें विचित्र फूल-फल और पल्लव-शाखा-काण्डसे, भाव और रूपके समवायसे, समग्रतामें अपने अस्तित्वका ही चरम गौरव घोषित करता रहता है। इसीको हम कहा करते हैं साहित्य।

भाषाके योगसे हम परस्पर एक दूसरेको तथ्यगत संवाद जताते हैं, और जताते हैं व्यक्तिगत मनोभाव। हम इन सब बातोंको यथास्थान व्यक्त किये बिना नहीं रह सकते कि 'यह हमें अच्छा लगता है, यह बुरा लगता है, या हम नाराज हैं, हम प्रेम करते हैं।' मूक पशु-पक्षियोंके भी है अपरिणत भाषा। उसमें कुछ तो ध्वनियाँ हैं, और कुछ हैं भङ्गिमाएँ। उस भाषासे वे आपसमें

कुछ संवाद भी जताते हैं और कुछ भाव भी। मनुष्यकी भाषा अपनी इस प्रयोग-सीमासे बहुत ज्यादा बढ़ गई है। अनुसन्धान और युक्तियोंके जोरसे तथ्यगत संवाद विज्ञानमें परिणत हो गया है; और होते ही, उसका प्रात्यहिक व्यक्तिगत बन्धन समाप्त हो गया है। यह जगत् 'मैं हूँ' मात्र इतना कहकर अपनेको जता रहा है; और मनुष्यने उसीको लेकर विराट ज्ञानका जगत् रच डाला। विश्व-जगत्में मनुष्यका जो योग इन्द्रिय-बोधकी देख-भालमें था उसपर सब देश और सब कालके मनुष्यकी बुद्धिने ज्ञानके योगसे विशेष-रूपसे अधिकार कर लिया।

भाव-प्रकाशकी दिशामें भी मनुष्यकी वही दशा हुई। मनुष्यने अपने सुखको, अपने दुःखको, अपने क्रोधको, अपने प्रेमको केवल प्रगट ही किया हो सो बात नहीं, उसे वह प्रकाशका उत्कर्ष देने लगा; उसमें वह आशु-उद्वेगकी प्रवर्तनाको अतिक्रम कर गया; उसमें मनुष्यने लगा दिये छन्द, लगा दिये स्वर, और व्यक्तिगत वेदनाको उसने दे दिया विश्वजनीन रूप। उसने अपने अच्छे-बुरे-लगनेके जगत्को अन्तरंगतासे सब मनुष्यका 'साहित्य-जगत्' बना दिया।

'साहित्य'-शब्दकी कोई धातुगत अर्थ-व्याख्या किसी अलंकार-शास्त्रमें है या नहीं, मालूम नहीं। इस शब्दका जब पहले-पहल उद्भव हुआ था तब इससे ठीक क्या समझा गया था,इस बातको निश्चित-रूपसे बताने-लायक बुद्धि मेरे नहीं है। किन्तु, मैं जिसे साहित्य कहता हूँ उसके साथ इस शब्दके अर्थका मेल बिठाकर यदि कुछ कहूँ, तो उसमें शायद कोई दोष न होगा।

साहित्यका सहज अर्थ जो मैं समझा हूँ वह है 'नैकट्य', अर्थात् सम्मिलन। मनुष्यको मिलना पड़ता है नाना प्रयोजनोंसे, और फिर मिलना होता है केवल मिलनेके लिए ही, अर्थात् साहित्यके ही उद्देश्यसे। साग-सब्जीके खेतके साथ मनुष्यका योग है फसल-फलानेका योग; किन्तु पुष्पोद्यानके साथ योग सम्पूर्ण पृथक् जातका है। सब्जीके खेतका शेष उद्देश्य है खेतके बाहर, और वह है भोज्य-संग्रह। पुष्पोद्यानका जो उद्देश्य है उसे एक दृष्टिसे 'साहित्य' कहा जा सकता है। अर्थात् मन उसके साथ मिलना चाहता है,– उद्यानमें जाकर हम बैठते हैं, घूमते हैं, उसके साथ योग होनेसे हमारा मन खुश होता है।

इससे हम समझ सकते हैं कि भाषाके क्षेत्रमें 'साहित्य'-शब्दका तात्पर्य क्या है। उसका काम है हृदयका योग कर देना, जहाँ योग ही अन्तिम लक्ष्य है।

व्यवसायी गुलाब-जलका कारखाना करता है, शहरके बाजारोंमें उसे बेचने भेजता है; वहाँ फूलकी सौन्दर्य-महिमा गौण है, वहाँ उसका बाजार-भावका हिसाब ही मुख्य है। कहनेकी जरूरत नहीं कि बाजार-भावके हिसाबमें 'आग्रह' हो सकता है, किन्तु 'रस' कतई नहीं है। पुष्पके साथ अहैतुक मिलनेमें इस हिसाबकी चिन्ता एक दीवार खड़ी कर देती है। अतः गुलाब-जलका कारखाना साहित्यकी सामग्री नहीं बन सकता। बन भी सकता है कविके हाथ पड़कर, किन्तु मालिकके हाथ तो हरगिज नहीं।

बहुत दिन पहलेकी बात है, मैं बोटमें जा रहा था पद्मा-नदीमें। शरत्की सन्ध्या थी। सूर्य मेघ-स्तवकोंमें अपने शेष ऐश्वर्यके सर्वस्व-दानका प्रण करके अस्त हो रहा था। आकाशकी नीरवता अपने अनिर्वचनीय शान्तरससे लबालब भर गई थी, भरी नदीमें कहीं भी जरा चांचल्य नहीं था, स्तब्ध चिक्कण जलके ऊपर सन्ध्याकाशकी नाना वर्णोंकी दीप्तिच्छाया म्लान होकर विलीन हुई जा रही थी। पश्चिम-तटपर दिगन्त-प्रसारित जनहीन जलहीन बालूचर प्राचीन युगान्तरके विशालकाय सरीसृपके समान पड़ा था। बोट जा रहा था दूसरे तटके किनारे-किनारे धसकनेवाले खड़े कगारोंके पाससे। कगारोंकी सैकड़ों सँधोंमें मैनाओंके घोंसले दिखाई दे रहे थे। सहसा एक बड़ी मछली पानीके भीतरसे क्षणिक कल-शब्द करके ऊपर उछली और वङ्किम भङ्गिमामें उसी क्षण पानीमें डूब गई। मानो मुझे वह क्षणिक चकित आभाससे उस जल-यवनिकाके अन्तरालमें निःशब्द जीवलोकके नृत्य-चंचल प्राणोंके आनन्दकी बात जता गई, और साथ ही मानो वह विलीयमान दिगन्तको दिनान्तका शेष नमस्कार निवेदन कर गई। ठीक उसी क्षण तपसी-माँझी दबे-हुए पछतावेके स्वरमें एक लम्बी साँस छोड़ता-हुआ बोल उठा, 'ओफ्हो ! बहुत बड़ी मछली थी !' उसके मनमें तब यही तसवीर जाग उठी थी कि 'मछली पकड़ ली है और रसोई-घरमें उसकी रन्धन-क्रिया हो रही है।' माँझीके चारों तरफसे अन्य समस्त चित्र खण्डित होकर दूर हट गये थे। यहाँ कहा जा सकता है कि 'विश्व-प्रकृतिके साथ

उसका साहित्य नष्ट हो गया। आहार और आसक्तिने उसे अपने जठर-गह्वरके केन्द्रमें खींच रक्खा।' असलमें अपनेको बिना भूले मिलन नहीं होता।

मनुष्यके नानाप्रकारकी चाहनाएँ होती हैं, उन चाहनाओंमें एक है खानेके लिए उस मछलीको चाहना। किन्तु उससे भी बड़ी चाहना है विश्वके साथ साहित्य अर्थात् सम्मिलन चाहना, नदी-तटके उस सूर्यास्त-आलोक-महिमान्वित दिवसावसानको अपने सम्पूर्ण मनके साथ मिला लेनेकी चाहना। यह चाहना है अपने अवरोधके भीतरसे अपनेको बाहर लानेकी चाहना। बगुला घंटों खड़ा रहता है वन-प्रान्तमें सरोवरके तटपर, सूर्य निकल आता है आकाशमें, आरक्त रश्मियोंके स्पर्शपातसे जल झलमला उठता है,— इस दृश्यके साथ क्या बगुला अपने मनको निविड़-रूपसे सम्मिलित करना जानता है? इस आश्चर्यजनक चाहनेका प्रकाश है मनुष्यके साहित्यमें। इसीलिए भर्तृहरिने कहा है, "जो मनुष्य साहित्य-सङ्गीत-कला-विहीन है वह पशु है, सिर्फ उसके सींग-पूँछ नहीं है, इतना ही प्रभेद है।" पशु-पक्षीका चैतन्य प्रधानतः अपनी जीविकामें ही सीमाबद्ध हैं, मनुष्यका चैतन्य विश्वमें मुक्तिका पथ तैयार कर रहा है, विश्वमें प्रसारित कर रहा है अपनेको,— साहित्य उसीका एक बड़ा पथ है।

मैं जिस टेबिलपर लिख रहा हूँ उसके एक किनारे एक पुष्पपात्रमें रखा है रजनीगन्धाका गुच्छा, और-एक पात्रमें है घने-घने हरे पत्तोंके बीच शुभ्र गन्धराज। लिखनेके काममें इनकी कोई आवश्यकता नहीं। इस अनावश्यकके आयोजनमें, मेरी एक आत्म-सम्मानकी घोषणा-मात्र है। इसमें मेरी एक बात नीरव-हुई पड़ी है; वह यह कि मेरी जीवन-यात्राकी आवश्यकताओंने मेरे चारों तरफ नीरन्ध्र प्राचीर खड़ी करके मुझे बन्दी नहीं बना रखा हैं। मेरा मुक्त स्वरूप अपनेको प्रमाणित कर रहा है उन पुष्पपात्रोंमें। चैतन्य जिसका बन्दी है, विश्वके साथ यथार्थ साहित्य-लाभके बीच उसके लिए बाधा हैं उसके कामादि रिपु, उसकी दुर्बलता, उसकी कल्पना-दृष्टिकी अन्धता। मैं बन्दी नहीं हूँ, मेरा द्वार खुला है, इसका प्रमाण देंगे वे अनावश्यक पुष्प, उनके साथ जो योग है वह विश्वके साथ योगका ही एक मुक्त वातायन है। उनको चाहा है मैंने उसी अहैतुक चाहसे मनुष्य जिससे मुक्त होता है एकान्त आवश्यकताके बन्धनसे। अपने इस निष्काम सम्बन्धको स्वीकार करनेके लिए मनुष्यके कितने उद्योग हैं

उनकी कोई शुमार नहीं। इसी बातको अच्छी तरह प्रकाशित करनेके लिए ही मानव-समाजमें इतने कवि हैं, इतने शिल्पी हैं।

सद्यःप्रस्तुत नया मन्दिर है सफेदी-पुता। उसके चारों तरफ पेड़-पौधे हैं। मन्दिर अपने श्यामल परिवेशके साथ मिल नहीं रहा है। वह उद्धत बना-हुआ है, उसने अपनेको स्वतन्त्र कर रखा है। उसके ऊपरसे कालका प्रवाह बहता रहे, वर्षके बाद वर्ष बीतते जायें, वर्षाकी जलधारासे प्रकृति उसका अभिषेक करती रहे, धूपके तापसे उसके बालू-चूनेके बन्धन कुछ-कुछ शिथिल होते रहें, अदृश्य शैवालके बीज पड़ते रहें उसकी देहपर, तब कहीं, धीरे-धीरे वन-प्रकृतिका रंग लगेगा उसके सर्वाङ्गपर, और फिर चारों तरफके परिवेशके साथ उसका सामंजस्य सम्पूर्ण होता रहेगा। विषयी लोग अपने चारों तरफके साथ मिलते नहीं, वे अपने-आपमें आप ही पृथक् हैं; और-तो-क्या, ज्ञानी लोग भी नहीं मिलते, क्योंकि वे स्वतन्त्र हैं। मिलते हैं भावुक लोग। वे अपने भाव-रससे विश्वकी देहपर अपना रंग लगाते हैं, मनुष्यका रंग। स्वभावतः विश्वजगत् हमारे आगे अपनी विशुद्ध प्राकृतिकतामें प्रकट होता है। किन्तु मनुष्य तो केवल प्राकृतिक नहीं है, वह मानसिक है। इसीसे मनुष्य विश्वपर अहोरात्र अपने मनका प्रयोग करता रहता है; वस्तु-विश्वके साथ वह अपने मनका सामंजस्य करता रहता है। जगत् मनुष्यके भावानुषङ्गसे अर्थात् उसके एसोसिएशनसे मण्डित हो उठता है। मनुष्यके व्यक्ति-स्वरूपकी परिणतिके साथ-साथ विश्वप्रकृतिकी मानविक परिणतिका परिवर्तन और परिवर्धन होता रहता है। आदियुगके मनुष्यके लिए प्रकृति जैसी थी, हमारे लिए वैसी नहीं है। प्रकृतिको हमने अपने मनोभावोंमें जितना ही अन्तर्भुक्त कर लिया है, हमारे मनकी परिणतिने भी उतना ही विस्तार और वैशिष्टय प्राप्त किया है।

हमारा जहाज लग रहा था जापानके बन्दरगाहमें। दृष्टि उठाकर देखने लगा मैं उस देशकी तरफ,— नया-सा लगा, सुन्दर लगा। एक जापानी भी आ खड़ा हुआ डेककी रेलिंगके सहारे। उसने केवल सुन्दर देशको नहीं देखा, उसने देखा जिस जापानके पेड़-पौधे और नदी-पर्वतोंने युग-युगमें मानव-मनके संस्पर्शसे विशेष-रसका रूप लिया है वह रूप प्रकृतिका नहीं, मनुष्यका है वह। रस-रूप मनुष्यने ही प्रकृतिको दिया है, देकर उसके साथ मानव-जीवनका

एकान्त साहित्य घटित कर दिया है। मनुष्यका देश जैसे मात्र प्राकृतिक नहीं, मानविक है, और इसीलिए देश उसे विशेष आनन्द देता है, उसी तरह मनुष्य समस्त जगतको हृदय-रसके योगसे अपनी मानविकतासे आवृत कर रहा है, उसपर अधिकार कर रहा है, अपना साहित्य प्रसारित कर रहा है सर्वत्र। मनुष्य सर्वमेवाविशन्ति।

बाहरका तथ्य किंवा घटना जब भावकी सामग्री बनकर हमारे मनके साथ रसके प्रभावमें मिल जाती है तब मनुष्य स्वाभावतः ही उस मिलनको सर्वकालके सर्वजनोंके अङ्गीकार-भुक्त करनेकी इच्छा करता है। क्योंकि रसकी अनुभूति जब प्रबल होती है तो वह हमारे मनमें अमाती नहीं, बाहर छलक निकलती है; तब उसे हम प्रकट करना चाहते हैं नित्यकालकी भाषामें; कवि उस भाषाको मनुष्यकी अनुभूतिकी भाषा कर देता है; अर्थात् ज्ञानकी भाषा नहीं, हृदयकी भाषा, कल्पनाकी भाषा। हम जब भी विश्वकी जिस-किसी वस्तु या व्यापारको भावकी दृष्टिसे देखते हैं, तभी, फिर वह यन्त्रका देखना नहीं रहता। फोटोग्राफिक लेन्सका जो यथावत् देखना है उससे इस देखनेमें स्वतः ही पार्थक्य हो जाता है। उस पार्थक्यको हूबहू वर्णनकी भाषामें प्रकट नहीं किया जा सकता। माकी दृष्टिसे देखे-हुए लल्लाके पाँवके नन्हे-नन्हे जूतोंको जूते कहना यथार्थ कहना ही नहीं हुआ। इसलिए माको कहना पड़ा :–

"लल्ला नाव चढ़े आया घर, जुतवा टुक-टुक लाल पहनकर।"

अभिधानमें यह 'जुतवा' शब्द कहीं ढूंढ़े नहीं मिलेगा। वैष्णव-पदावलीमें जो मिश्रित भाषा चल गई है वह केवल हिन्दी-भाषाका अपभ्रंश ही हो सो बात नहीं। पद-कर्ताने उसकी जान-बूझकर रक्षा की है, क्योंकि अनुभूतिकी असाधारणता व्यक्त करनेके लिए साधारण भाषा सहज नहीं होती। भावके साहित्य-मात्रमें ऐसी एक भाषाकी सृष्टि होती है जो भाषा कुछ कहती है और कुछ छिपाती है,– जिसमें कुछ अर्थ होता है और कुछ होता है स्वर। इस भाषाको कुछ आड़ी करके, कुछ तिरछी करके, उसके साथ रूपक मिलाकर, उसके अर्थको उलटपुलटकर, तब कहीं, वस्तु-विश्वके प्रतिघातसे मनुष्यमें जो एक भावका विश्व सृष्ट होता रहता है, उसको प्रकट करना सम्भव होता है। नहीं तो कवि क्यों कहने लगा, 'देखनेको अक्षि-पक्षी धाया'। देखनेका आग्रह

एक साधारण घटना-मात्र है। उस घटनाको बाहरकी चीज न रखकर उसे जब मनके साथ मिला दिया गया, तब कविने एक अद्भुत बात कह दी, 'देखनेको अक्षि-पक्षी धाया'। आग्रह पक्षीकी तरह धाता है, यह मनकी बनी भाषा है, विवरणकी नहीं।

गोधूलि-वेलाके झुटपुटे अँधेरेमें रूपसी मन्दिरसे बाहर निकली, यह घटना बाह्य घटना है और अत्यन्त साधारण है। किन्तु कविने कहा, 'नववर्षाके मेघमें विद्युतकी रेखा मानो द्वन्द्व प्रसारित करके चली गई।' इस उपमाके योगसे बाहरकी घटना अपना चिह्न अङ्कित कर गई ; और हमारे अन्तरमें मनने इसे सृष्टिका विषय बनाकर अपना बना लिया।

किसी एक अज्ञातनामा ग्रीक कविकी लिखी-हुई एक कविताका यहाँ गद्य-अनुवाद दे रहा हूँ, अंगरेजी-अनुवादसे। कवि कहता है, "सेवके पेड़की डालियोंकी सँधोंमेंसे झिरझिर बह रही है शरत्की हवा, थरथर काँपते-हुए पत्तोंमें नींद उतरी आ रही है धरतीकी ओर, और फैली जा रही है नदीकी धाराकी तरह।" यह जो कम्पमान डाल-पत्तोंमें मर्मर-मुखरित स्निग्ध हवासे निःशब्द नदीके समान व्याप्त नींदकी रात है, यह हमारे मनकी रात है। इस रातको हम अपनी बनाकर तब कहीं उसका पूर्ण-रूपसे उपभोग कर सकते हैं।

किसी चीनी कविने कहा है :—

"पहाड़ लगातार सैकड़ों हाथ ऊपर
उठता ही चला गया है ;
सरोवर चला गया है सैकड़ों कोस,
कहीं उसमें लहर नहीं ;
बालू चमक रही है निष्कलङ्क शुभ्र ;
शीत और ग्रीष्म दोनों ऋतुओंमें समान
अक्षुण्ण हरे-भरे देवदार-वन हैं ;
नदीकी धारा चलती ही चली जा रही है,
कहीं भी जरा विराम नहीं करना चाहती वह ;
वृक्ष सब बीस हजार वर्षसे
अपना प्रण निभाते चले आ रहे हैं,—

सहसा इन्होंने एक पथिकके मनसे
मिटा दी सारी दुःख-वेदना,
एक नया गीत रचनेको चला दी अपनी लेखनी।"

मनुष्यकी दुःखवेदना मिटा दी नदी-पर्वत-सरोवरने ! यह कैसे सम्भव हो सकता है ? नदी-पर्वतके अनेक प्राकृतिक गुण हैं, किन्तु सान्त्वनाका मानसिक गुण तो उनमें नहीं है। मनुष्यका अपना मन उसमें व्याप्त होकर अपनी सान्त्वनाकी सृष्टि करता है। जो वस्तुगत चीज है वह मनुष्यके मनके स्पर्शसे उसीके मनकी चीज हो उठती है। उस मनके विश्वके सम्मिलनसे मनुष्यके मनकी दुःख-वेदना शान्त हो जाती है; और तब, उस साहित्यसे ही साहित्य जाग उठता है।

विश्वके साथ इस मिलनको सम्पूर्ण-रूपसे अनुभव करने और भोग करनेकी क्षमता सबमें समान नहीं होती। कारण, जिस शक्तिके द्वारा विश्वके साथ हमारा मिलन केवलमात्र इन्द्रियोंका मिलन न होकर मनका मिलन हो उठता है, वह है कल्पना-शक्ति। यह कल्पना-शक्ति मिलनके पथको हमारे लिए अन्तरात्माका पथ बना देती है। जो-कुछ भी हमसे पृथक है, इस कल्पनाकी सहायतासे उसके साथ हमारा एकात्मता-बोध सम्भव होता है, और जो हमारे मनकी चीज नहीं उसमें भी मन प्रवेश करके उसे मनोमय कर सकता है। यह लीला मनुष्यकी है, इसी लीलामें उसका आनन्द है। जब मनुष्य कहता है, 'कहाँ पाऊँ रे मैं अपने मनकौ मीत', तब समझना होगा कि जिस मनुष्य को मनसे अपने ही भाव-रसमें अपना बना लिया जाता है उसीको अपना नहीं किया जा सका है,– इसीसे तो, 'देस फिरौ, परदेस फिरौ मैं, मिलौ न खोयौ मीत।' मन उसे अपने मनका नहीं कर सका, इसीसे तो बाहर-बाहर भटकना पड़ रहा है उसे। मनुष्यका विश्व यदि मनुष्यके मनके बाहर ही हो, तो वही तो निरानन्दका कारण है। मन जब उसे अपना बना लेता है तभी उसकी भाषामें शुरू हो जाता है साहित्य, उसकी लेखनी विचलित हो जाती है नूतन गानकी वेदनासे।

मनुष्य भी विश्वप्रकृतिके अन्तर्गत है। नाना अवस्थाओंके घात-प्रतिघातसे विश्व-भरके मानव-लोकमें हृदयावेगकी तरंगें खेल रही हैं। उसे समग्र-रूपसे

एकान्त-रूपसे स्पष्ट-रूपसे देखनेमें दो बड़ी बाधाएँ हैं। पर्वत या सरोवर विराजते हैं अक्रिय, यानी 'पैसिव' के तौरपर ; हमारे साथ उनका जो व्यवहार है वह प्राकृतिक है, उसमें मानसिक कुछ भी नहीं है, इसीलिए मन उसे सम्पूर्ण अपना बनाकर सहज ही अपने भावमें भावित कर सकता है। किन्तु, मानव-संसारकी वास्तव घटनावलीके साथ हमारे मनका जो सम्पर्क होता है वह सक्रिय है। दुःशासनके हाथसे कौरव-सभामें द्रौपदीका जो असम्मान हुआ था वैसी घटना यदि किसी मुहल्लेमें घटती तो उसे हम मानव-भाग्यकी विराट शोकावह लीलाके अङ्ग-रूपमें बड़ी करके नहीं देख सकते थे। ऐसी घटनाको हम दैनिक घटनावलीकी सीमामें विच्छिन्न एक अन्याय-मात्र समझते हैं, हमारी दृष्टिमें यह घटना एक 'पुलिस-केस' के रूपमें ही आती, जिसे हम घृणाके साथ धिक्कार देकर रोजमर्राके संवाद-कूड़ेके रूपमें बुहारकर फेंक देते। किन्तु, 'महाभारत' का खाण्डववन-दहन वास्तविकताके एकांत नैकटयसे बहुत दूर चला गया है, और उस दूरत्वके कारण वह अकर्तृक (बिना कर्ताका अकृत्रिम) हो उठा है। मन उसे उसी तरह सम्भोग-दृष्टिसे देख सकता है जिस तरह वह पर्वत और सरोवरको देखता है। किन्तु, यदि हमें ऐसा समाचार मिले कि आग लग जानेसे सैकड़ों लोकालय और शस्य-क्षेत्र जलकर खाक हुए जा रहे हैं, सैकड़ों मनुष्य और पशु-पक्षी जले जा रहे हैं, तो वह हमारी करुणापर छाकर चित्तको पीड़ित कर देगा। घटना जब वास्तवके बन्धनसे मुक्त होकर कल्पनाके विशाल परिप्रेक्षितमें अर्थात् व्यापक विस्तृतिमें उतर आती है, तभी हमारे मनके लिए उसका साहित्य हो जाता है विशुद्ध और बाधाहीन।

मानव-घटनाको सुस्पष्ट करके देखनेमें और-एक बाधा है। संसारमें अधिकांश क्षेत्रमें ही घटनाएँ सुसंलग्न नहीं होतीं, और उनकी समग्रता देखनेमें नहीं आती। हमारी कल्पनाकी दृष्टि ऐक्यका सन्धान करती है और उसकी स्थापना करती है। मान लो, मुहल्लेके किसी दुःशासनके अत्याचारकी बात हमने सुन ली या अखबारों में पढ़ ली। किन्तु, हो सकता है कि वह घटना पूर्ववर्ती या परवर्ती किसी दूर-शाखा-प्रशाखावर्ती जबरदस्त ट्रैजिडीसे सम्बन्ध रखती हो, और हमारे सामने वह भूमिका है नहीं, और यह भी सम्भव है कि यह घटना सारे वंशमें माता-पिताके चरित्रके भीतरसे अतीतमें भी

प्रसारित हो, किन्तु वह हमारे लिए अगोचर है। परन्तु हम उसे देखते हैं टुकड़ोंमें, बीचमें अनेक अवान्तर विषय और घटनाओंसे वह परिच्छिन्न है। ऐसी हालतमें, समस्त घटनाओंकी सम्पूर्णताके लिए यह छाँट निकालना कि उनमेंसे कौन-कौनसी सार्थक हैं और कौन-कौनसी निरर्थक, हमारे लिए सम्भव नहीं है। इसीलिए उसका वृहत् तात्पर्य हमारी दृष्टिमें पकड़ाई नहीं देता। जिसे मैंने 'वृहत् तात्पर्य' कहा है उसे जब हम समग्र करके देखते हैं, तभी वह साहित्यमें दिखाई दे सकता है।

फ्रान्सकी राज्य-क्रान्तिके समय प्रतिदिन जो खण्ड-खण्ड घटनाएँ घट रही थीं, उन दिनों उनका चरम अर्थ भला किसे दिखाई दिया होगा! कार्लाइलने छाँट-छाँटकर जब उन्हें अपने कल्पना-पटपर सजाकर एक समग्रताकी भूमिकामें देखा, तब हमारे मनने भी उन विच्छिन्नोंको निरवच्छिन्न-रूपमें ग्रहण करके अपने निकट पा लिया। विशुद्ध इतिहासकी तरफसे कार्लाइलके चुनावमें अनेक दोष दिखाये जा सकते हैं, और यह भी सम्भव है कि अनेक अत्युक्तियाँ और अनेक ऊनोक्तियाँ भी हों उसमें, विशुद्ध तथ्य-विचारके लिए जो दृष्टान्त अत्यावश्यक थे उनमेंसे भी बहुतसे रह गये हों। किन्तु, कार्लाइलकी रचनामें जो सुनिविड़ समग्रताका चित्र अंकित हुआ है उसपर हमारा मन अव्यवहित रूपसे मुक्त और व्याप्त होनेमें कोई बाधा नहीं पाता। इसलिए, इतिहासकी तरफसे अगर ऐसी कोई असम्पूर्णता हो भी, तो भी, साहित्यकी तरफसे वह परिपूर्ण ही है।

आज इस वर्तमान-कालमें ही हमारे देशमें चारों तरफ खण्ड-खण्ड रूपमें राष्ट्रिक उद्योगकी नाना चेष्टाएँ और नाना घटनाएँ उत्क्षिप्त हो रही हैं। फौजदारी शासनतन्त्रकी खास-खास कानूनोंकी सीमामें उनका विवरण सुनते हैं संवादपत्रोंकी नानाजातीय आशु-विलीयमान मर्मरध्वनिमें। भारतवर्षके इस युगके समग्र राष्ट्र-रूपके भीतर उन्हें सम्पूर्ण-रूपसे रखनेका अभी मौका नहीं मिला; जब मिलेगा तब वे मनुष्यके सम्पूर्ण वीर्य, सम्पूर्ण वेदना, समस्त व्यर्थता या सार्थकता और समस्त त्रुटि-विच्युतियोंको लेकर संवादपत्रके छाया-लोकसे निकलकर पहुँच जायेंगी साहित्यके ज्योतिष्कलोकमें। तब जज और मजिस्ट्रेट, कानूनके पोथे, पुलिसके डण्डे, सब-कुछ हो जायेंगे गौण; तब आजके

छिन्न-विच्छिन्न छोटे-बड़े द्वन्द्व-विरोध एक विराट् भूमिकामें ऐक्य प्राप्त करके नित्यकालके मानव-मनमें विराट्मूर्तिमें प्रत्यक्ष होनेके अधिकारी हो जायेंगे।

मनुष्यके साथ मनुष्यके नानाप्रकारके सम्बन्ध और संघातोंसे संसार-भरमें हमारी अभिज्ञता विचित्र होती जा है। यह एक मानस-जगत् है, अनेक युगोंकी रचना। इसपर नृ-तत्त्वकी दृष्टिसे, मनस्तत्त्वकी दृष्टिसे, ऐतिहासिक दृष्टिसे विचार करके ही हम मनुष्यके सम्बन्धमें ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं; यह होगा तथ्य-संग्रह और विश्लेषणका कार्य। किन्तु, इस अभिज्ञताके जगतमें हम प्रकाश-वैचित्र्यवान मनुष्यके नैकटचकी कामना करते हैं। यह चाहना हमारे मनमें अत्यन्त गभीर और प्रबल है। शिशुकालसे मनुष्य कहता आ रहा है, 'कहानी कहो।' यह कहानी तथ्योंकी प्रदर्शनी नहीं है, किसी-एक मानव-परिचयकी पूरी तसवीर है, समग्र चित्र है; हमारे जीवनके अनुभवोंने पूर्णता पाई है उसमें। रूपकी मोहिनी शक्ति, विपत्तिके पथमें वीरताका अध्यवसाय, दुर्लभके सन्धानमें दुःसाध्य उद्यम, बुरेके साथ अच्छेकी लड़ाई, प्रेमकी साधना, ईर्षामें उसका विघ्न, ये सब हृदयबोध मनुष्यमें नाना अवस्थाओं और नाना आकारोंमें फैले-हुए हैं। इनमेंसे कितने ही सुखके हैं तो कितने ही दुःखके। इन्हीं सब हृदयबोधोंको अच्छी तरह सजाकर, कथा-चित्रोंमें रूप देकर रूप-कथाएँ बनी हैं; और बच्चे उन्हें आदिकालसे ही सुनते आ रहे हैं। इसके जुगानमें कभी भी कोई विच्छेद नहीं पड़ा। इन रूपकथाओंमें अलौकिक जीवोंकी भी बात है, किन्तु वे मनुष्यके ही प्रतीक हैं। इनमें जो दैत्य-दानव हैं, वस्तुतः वे मनुष्य ही हैं; और जो विहङ्गम-विहङ्गमी हैं, वे भी मनुष्यके ही प्रतीक हैं। इन सब कहानियोंमें मनुष्यका वास्तव-जगत् कल्पनामें रूपान्तरित होकर शिशु-मनके जगत्के रूपमें दिखाई दिया है। शिशु उससे आनन्दित हो उठता है। मनुष्य जो स्वभावतः सृष्टिकर्ता है, इसीसे वह सब-कुछको अपनी सृष्टिमें परिणत करके उसीमें अपना नीड़ बाँधता रहता है; विशुद्ध विधाताकी सृष्टिसे उसका काम नहीं चलता, उसमें वह अमाता ही नहीं। मनुष्य अपने हाथसे अपनेको और अपने संसारको बनाकर उस संसारकी भी तसवीर बनाता है अपने हाथसे, इससे उसे निविड़ आनन्द मिलता है, कारण वह चित्र उसके मनके बिलकुल पास आ जाता है।

जिस शकुन्तलाकी घटना मानव-संसारमें घट सकती है उसीको कवि हमारे मनके समीप सत्य करके रख देते हैं। ऐसे ही 'रामायण'की रचना हुई, ऐसे ही 'महाभारत'की रचना हुई। 'रामायण'में राम मिले ; किन्तु, वह तो किसी एक मनुष्यका रूप नहीं,— बहुत कालसे मनुष्योंमें जो विशेष गुणोंका क्षण-क्षणमें कुछ-कुछ स्वाद मिलता रहा था, कविके मनमें उन्हींकी पूर्ण परिणति हुई रामचन्द्रकी मूर्तिमें। रामचन्द्र हो उठे हमारे 'मनके आदमी'। वास्तव-संसारमें अनेकानेक विक्षिप्त अच्छे आदमियोंकी अपेक्षा रामचन्द्र हमारे मनमें कहीं अधिक सत्य-मनुष्य हो उठते हैं। मन उन्हें जिस तरह स्वीकार करता है, प्रत्यक्ष हजारों-लाखों लोगोंको वैसे स्वीकार नहीं करता। 'मनका आदमी' कहनेसे 'आदर्श अच्छा आदमी' समझना होगा, ऐसी बात नहीं। संसारमें बुरे आदमी भी हैं फैले-हुए और अनेक-कुछके साथ मिले-हुए, हमारी पँचमेल अभिज्ञतामें उनकी 'बुराई' ही अलग होकर दिखाई देती है। संसारमें ऐसे बहुतसे बुरे लोगोंकी बहुत-सी बुराइयोंके खण्ड-खण्ड परिचय क्षण-क्षणमें हमारे पास आते रहते हैं ; वे आते हैं, जाते हैं, आघात करते हैं, और नाना घटनाओंके नीचे दब-दबकर अगोचर होते रहते हैं। किन्तु, साहित्यमें वे संहत आकारमें एकता प्राप्त करके हमारे नित्य मनकी सामग्री हो उठते हैं, और तब फिर उन्हें हम भूल नहीं सकते। शेक्सपीयरका फॉल्स्टाफ एक विशिष्ट मनुष्य है इसमें सन्देह नहीं। फिर भी कहना होगा कि हमारी अभिज्ञतामें अनेक मनुष्योंके कुछ-कुछ आभास हैं, शेक्सपीयरकी प्रतिभाके जोरसे जिनका समन्वय घनीभूत हुआ है फॉल्स्टाफके चरित्रमें, वह टुकड़े जोड़-जोड़कर नहीं बनाया गया, किन्तु कल्पनाके रसमें जारित करके उसकी सृष्टि हुई है। उसके साथ हमारे मनका मेल होना अत्यंत सहज है, इसीलिए उसमें हमारा आनन्द है।

यहाँ ऐसी बात मनमें आ सकती है कि 'प्राचीन कालके काव्य-नाटकोंमें हम जिन्हें देखते हैं वे एक-एक 'टाइप' हैं, वे श्रेणीगत हैं ; इसीसे वे एक ही जातके अनेक मनुष्योंके टूटे-फूटे उपकरणोंसे बने हैं। किन्तु आधुनिक कालके साहित्यमें हम जिन चरित्रोंको देखते हैं वे व्यक्तिगत हैं।'

पहली बात तो यह है कि व्यक्तिगत मनुष्यकी भी श्रेणीगत बुनियाद है, एकान्त-रूपसे श्रेणी-विच्छिन्न मनुष्य है ही नहीं। प्रत्येक मनुष्यमें ही है बहु

मनुष्य, और उसके साथ ही जड़ित है वह एक मनुष्य जो 'विशेष' है। चरित्र-सृष्टिमें श्रेणीको गौण करके व्यक्तिको ही यदि प्रधानता दे भी दी जाय, तो भी उस व्यक्तिको हमारी धारणाके सम्पूर्ण अधिगम्य करनेके लिए उसमें रूपदक्षका हाथ पड़ना ही चाहिए। आर्टिस्टकी सृष्टि प्रकृतिकी सृष्टि-धाराका अनुसरण नहीं करती। इस सृष्टिमें हम जिस मनुष्यको देखते हैं, यदि वह प्रकृतिके हाथसे बनता तो उसमें अनेक बाहुल्य होता, भले ही वह वास्तव होता, किन्तु सत्य नहीं होता, अर्थात्, हमारा हृदय उसे निःसंशय-रूपसे प्रामाणिक नहीं मानता। उसमें बहुतसी दरारें (gaps) होतीं, बहुत-कुछ निरर्थक भी होता, उसके आगे-पीछेका वजन ठीक नहीं रहता। शतदल-पद्ममें जिस ऐक्यको देखकर हम उसे उसी क्षण 'सुन्दर' कहते हैं, वह सहज है,– उसके सङ्कीर्ण वैचित्र्यमें कहीं भी परस्पर द्वन्द्व नहीं है, अर्थात् ऐसा कुछ भी नहीं जो अन्यथा या अयोग्य हो, हमारा हृदय उसपर अनायास ही अधिकार पा लेता है, कहीं भी वह बाधा नहीं पाता। मनुष्यके संसारमें द्वन्द्वबहुल वैचित्र्य हमें उद्भ्रान्त कर देता है। यदि उसके किसी-एक प्रकाशको स्पष्ट-रूपसे हृदयगम्य करना हो तो उसके लिए रूपदक्ष (आर्टिस्ट) की सुनिपुण कल्पना चाहिए ही चाहिए; यानी 'वास्तव'में जो-कुछ है, बाहर उसे परिणत कर देना होगा 'मनकी चीज'के रूपमें। आर्टिस्टके सामने उपकरण होते हैं बहुत,– उनमेंसे ग्रहण - वर्जन करना होगा कल्पनाके निर्देशानुसार; उनमेंसे किसीको बढ़ाना होगा तो किसीको घटाना, किसीको सामने रखना होगा तो किसीको पीछे। 'वास्तव'में जो बाहुल्यमें विक्षिप्त है उसे इस तरह सहन करना होगा कि जिससे हमारा मन उसे सहजमें ग्रहण करके उससे मुक्त हो सके। प्रकृतिकी सृष्टिका जो दूरत्व है, साहित्यकी भाषाका सेतु बनाकर उसे मर्मङ्गमका नैकट्य देना होगा। ऐसा नैकट्य देता है साहित्य, इसीलिए साहित्यको हम 'साहित्य' कहते हैं।

मनुष्यने जिस विश्वमें जन्म लिया है उसे वह दो दिशाओंसे बराबर आत्मसात् करनेकी चेष्टा कर रहा है; व्यवहारकी दिशासे और भावकी दिशासे। अग्नि जहाँ प्रच्छन्न है वहाँ मनुष्यने आग जलाई अपने हाथसे, आकाशका प्रकाश जहाँ अगोचर है वहाँ उसने बिजलीके प्रकाशको प्रकाशित किया अपने कौशलसे, प्रकृति अपनी तरफसे फल-मूल आदिकी जितनी फसल

देती है उसकी अनिश्चयता और अपर्याप्तता दूर करनेके लिए मनुष्यने हल जोतकर खेती शुरू कर दी। वह वन पर्वत और गुफाओंमें वास कर सकता था, किन्तु नहीं किया। उसने अपनी सुविधा और रुचिके अनुकूल अपना घर आप बनाना शुरू कर दिया। पृथ्वी मनुष्यको बिना-माँगे मिली थी। किन्तु मनुष्यकी इच्छाके साथ उसका पूरा मेल नहीं बैठा, इसलिए, आदिकालसे ही प्राकृतिक पृथ्वीको मनुष्यने बुद्धि-कौशलसे अपनी इच्छानुगत पृथ्वी कर डाला, और इसके लिए उसके यन्त्र-बल और निर्माण-नैपुण्यका अन्त नहीं। जगतके जल-स्थल-आकाशमें सर्वत्र मनुष्य अपनी इच्छाको प्रसारित किये दे रहा है। उसे उपकरण मिल रहे हैं उस पृथ्वीसे, और शक्ति उधार ले रहा है वह उसीके गुप्त-भण्डारमें प्रवेश करके। उन्हें वह अपने मार्गसे अपने मतानुसार चलाकर पृथ्वीका रूपान्तर किये दे रहा है। मनुष्यके नगर-ग्राम, शस्य-क्षेत्र, मैदान-उद्यान, हाट-घाट, यातायातके मार्ग सबके सब प्रकृतिकी स्वाभाविक अवस्थासे आगे बढ़कर स्वतन्त्र हुए जा रहे हैं। पृथ्वीके नाना देशोंमें फैले-हुए धनको मनुष्य एकत्र कर रहा है, नाना स्थानोंमें विक्षिप्त शक्तिको वह संहत कर रहा है; और इस तरह देश-देशान्तरमें पृथ्वी मनुष्यके आगे क्रमशः अभिभूत होकर आत्म-समर्पण करती आ रही है। मनुष्यके विश्व-विजयका यही एक खेल चल रहा है वस्तु-जगतमें। भाव-जगतमें उसका और-एक खेल चालू है। एक तरफ उसका जयस्तम्भ है व्यावहारिक विज्ञानमें, और दूसरी तरफ है शिल्प और साहित्यमें।

जिस दिनसे मनुष्यके हाथोंने नैपुण्य पाया है, और उसकी भाषाने पाया है अर्थ, उसी दिनसे मनुष्य अपने इन्द्रिय-बोधगम्य जगतसे नाना उपादानोंके द्वारा उद्भावित कर रहा है अपने भावगम्य जगतको। जो बात उसके अपने रचे व्यावहारिक जगतमें है वही बात यहाँ भी है, अर्थात् उसके चारों तरफ जो कुछ जिस तरह है उसीको उसने विवशतासे स्वीकार नहीं कर लिया है। कल्पनासे उसे ऐसा रूप दिया है, हृदयसे उसमें ऐसा रस दिया है, जिससे वह मनुष्यके मनकी चीज बनकर उसे आनन्द देती है।

'भाव-जगत्' कहनेसे हमें किस चीजका बोध होता है? हृदय जिसकी उपलब्धि करता है विशेष रसके योगसे, और अनतिलक्ष्य अनेक अविशेषोंमेंसे

कल्पनाकी दृष्टिसे जिसे हम विशेष करके लक्ष्य करते हैं,—यह उपलब्धि करना, यह लक्ष्य करना ही जहाँ चरम विषय है वहीं हमारा भाव-जगत् है। दृष्टान्त-स्वरूप चाँदनी-रातको ही ले लिया जाय। उस रात्रिमें एक विशेष रस है, जो मनपर अधिकार कर लेता है। सिर्फ रस ही नहीं, रूप भी है उसमें, जिसे हम कल्पनाकी आँखोंसे देखते हैं। वृक्षोंकी शाखाओंमें, वनके मार्गोंमें, मकानकी छतोंपर, सरोवरके जलमें नाना भंगिमाओंमें उसका आलोक-छायाका आलिलन चलता रहता है। उसके साथ नाना ध्वनियोंका मिलन होता है,— पक्षियोंके नीड़ोंमें अकस्मात् पंखोंकी फड़फड़ाहट, वायुमें बाँसके पत्तोंकी फरफर, अंधकार-आच्छन्न झुरमुटोंमें झींगुरोंकी झनकार, नदीमें डोंगियोंकी डाँड़ खेनेकी छपछप और दूर कहीं किसी घरके द्वारपर कुत्तोंका भूँकना। मानो हवाके साथ अनदेखे अपरिचित फलोंकी मृदु गन्ध दबे-पाँव चली आ रही हो,—कभी-कभी मानो उसीमें मिल रहा हो किसी-किसी परिचित फूलका परिचय। इस तरह अनेक प्रकारके स्पष्ट और अस्पष्टोंको मिलाकर 'चाँदनी रात'का एक स्वरूप देख लेती है हमारी कल्पनाकी दृष्टि। इस कल्पना-दृष्टिमें विशेष-रूपसे और समग्र-रूपसे देखनेकी 'चाँदनी-रात' मनुष्य-हृदयकी अत्यन्त निकटकी चीज है। इसीको लेकर मनुष्यका 'अत्यन्त निकट पानेका आनन्द' है, मिलनका आनन्द है।

गुलाबका फूल असाधारण है, वह अपने सौन्दर्यसे ही हमारे लिए विशिष्ट हो उठता है, वह स्वतः ही हमारे मनकी चीज है। किन्तु जो साधारण है, जो असुन्दर है, उसे हमारा मन कल्पनाकी ऐक्य-दृष्टिसे विशिष्ट बनाकर दिखा सकता है ; बाहरसे उसे आतिथ्य दे सकता है भीतरके अन्तःपुरमें। मान लो, झाड़-झुरमुटोंसे आच्छन्न टूटी-फूटी मिट्टीकी दीवारपरसे गाँवकी बागदी-बुढ़िया सायाह्नकी उतरती धूपमें कण्डे छुड़ा-छुड़ाकर अपनी टोकनीमें रख रही है और पीछेसे उसकी पाली-हुई रुगैल कुतिया उसे तंग कर रही है। यही दृश्य यदि विशिष्ट रूप लेकर हमारी दृष्टिमें पड़े, और उसे हम तथ्यकी साधारणतासे अलग करके उसके स्वकीय अस्तित्व-गौरवमें देखें, तो वह भी स्थान पा जायगा हमारे भावोंके नित्य-जगतमें।

वस्तुतः, ऐसी ही सृष्टियोंसे रूपदक्षोंको आनन्द मिलता है। जो वस्तु सहज ही में जन-साधारणकी आँखोंको बहला सकती है उससे उनकी अपनी

सृष्टिके गौरवको बल नहीं मिलता। जो चीज स्वतः ही किसीको नहीं बुलाती उसके मुँहसे भी कलाकार आमन्त्रण-वाणी उच्चारित कराता है; जिसके पास विधाताके हाथका पासपोर्ट नहीं है उसे भी वह मनोलोक तक पहुँचा देता है। बहुधा बड़े आर्टिस्ट अवज्ञा करके सहज मनोहरको अपनी सृष्टिमें व्यवहार नहीं करते। मनुष्य सदासे वस्तु-जगतपर अपना बुद्धिकौशल विस्तार करके अपनी जीवन-यात्राके एकान्त अनुगत एक व्यावहारिक जगत् बनानेका प्रयत्न करता आया है। इसी तरह मनुष्य अपने इन्द्रिय-बोधके जगत्को परिव्याप्त किये-हुए विचित्र कला-कौशलसे अपने भाव-रस-भोगके जगतकी सृष्टि करनेमें प्रवृत्त है। यही उसका साहित्य है। व्यावहारिक बुद्धि-नैपुण्यसे मनुष्य कल-बल और कौशलसे विश्वको अपने हाथमें कर लेता है, अपने कला-नैपुण्य और कल्पना-शक्तिसे विश्वको वह अपने पास पा लेता है। इसका मूल्य प्रयोजन-सिद्धिमें नहीं है; इसका मूल्य है आत्मीयता-साधनमें, साहित्य-साधनामें।

एक बार प्राचीनकालकी ओर देखा जाय। साहित्य-साधनाके सम्बन्धमें उस समयके मनोभावका परिचय है एक कहानीमें, जो आलोचनाके योग्य है। क्रौञ्च-मिथुनमें एक क्रौञ्चकी जब व्याधने हत्या कर डाली, तब घृणाके आवेग में कविके कण्ठसे अनुष्टुभ छन्द सहसा उच्चारित हो उठा। यहाँ कल्पना की जाय कि विश्व-सृष्टिके पहले सृष्टिकर्ताके ध्यानमें सहसा ज्योति जाग उठी। उस ज्योतिमें था अशेष वेग, और थी प्रकाश-शक्ति। स्वतः ही प्रश्न उठा कि 'अनन्तमें इस ज्योतिका क्या किया जाय?' इसीके उत्तरमें ज्योतिरात्मक अणु-परमाणुओंके संघ नित्य-व्यक्त विचित्र रूप धर-धरकर आकाश-आकाशमें आवर्तित होते गये। विश्वब्रह्माण्डकी यह महिमा उस आदिज्योतिकेही योग्य है।

कवि-ऋषिके मनमें जब सहसा उस वेगवान शक्तिमान छन्दका आविर्भाव हुआ तब स्वतः ही प्रश्न जागा, 'इसीके उपयुक्त सृष्टि होनी चाहिए।' उसीके उत्तरमें रचित हुआ 'राम-चरित'। अर्थात्, ऐसा-कुछ जो नित्यताके आसनपर प्रतिष्ठित होने योग्य हो। जिसका सान्निध्य अर्थात् जिसका साहित्य मनुष्यके लिए आदरणीय हो।

मनुष्यकी निर्माण-शक्ति बलशाली है, आश्चर्यजनक है उसकी निपुणता। मनुष्यने अपनी इस शक्तिसे, इस निपुणतासे बड़े-बड़े नगरोंका निर्माण किया।

'नगरोंकी ये मूर्तियाँ मनुष्यके लिए गौरवकी वस्तु हों' इस बातकी इच्छा किये बिना उस जातिके मनुष्योंसे रहा नहीं गया जिनमें शक्ति है, जिनमें आत्म-सम्मानका बोध है, जो सभ्य हैं। साधारणतः इस इच्छाके होते-हुए भी नाना 'रिपु' आकर व्याघात डालते हैं ; मुनाफा उठानेका लोभ, सस्तेमें काम बनानेकी कृपणता, निर्धनके प्रति धनीकी उपेक्षा, अशिक्षित विकृतरुचि बर्बरता आदि भी आ जाती है उसमें। इसीसे निर्लज्ज निर्ममतासे कुत्सित जूट-मिलें भी उठ खड़ी होती हैं गंगातटकी पवित्र श्यामलताको पददलित करके, इसीसे प्रासाद-श्रेणीके अंतरालमें नानाजातीय भद्दी गन्दी बस्तियाँ अस्वास्थ्य और अशोभनता को पालती रहती हैं अपने कलुषित आश्रयमें, और जैसे-तैसे जहाँ-तहाँ भद्दे ढंगसे बने-हुए घर-द्वार, तेल-कल, गन्दी दूकानें और गली-कूचे हमारी आँखों और मनको पीड़ा देते-हुए देश और कालमें अपने स्वत्वाधिकारको पक्का करते रहते हैं। किन्तु, 'रिपु'की प्रबलता और अक्षमताके निर्देश-स्वरूप इन सब व्यत्यय-वैपरीत्योंको स्वीकार करनेके बाद भी कुल मिलाकर यह बात माननी ही होगी कि 'सम्पूर्ण नगर नगर-वासियोंके गौरव करने-योग्य बन जाय' यह इच्छा ही सत्य है। कोई यह नहीं कह सकता कि नगरका सत्य उसकी कुत्सित विकृतियाँ है। कारण, नगरके साथ नगर-वासियोंका अत्यन्त निकटका योग है,– यह योग स्थायी योग है, यह योग आत्मीयताका योग है, यह ऐसा योग नहीं जिसमें उसकी आत्मावमानना हो।

साहित्यके सम्बन्धमें भी ठीक यही बात कही जा सकती है। उसपर रिपुका आक्रमण आ पड़ता है, भीतर-ही-भीतर दुर्बलताके नाना चिह्न दिखाई देते रहते हैं, जहाँ-तहाँ मलिनताके कलङ्क भी लगते रहते हैं ; किन्तु फिर भी इन समस्त हीनता-दीनताके ऊपर उठकर जो साहित्य समग्र-रूपसे मनुष्यकी महिमाको प्रकाशित नहीं कर सकता, उसपर गौरव नहीं किया जा सकता। क्योंकि साहित्यमें मनुष्य अपने ही सङ्गको, अपने ही साहित्यको प्रकट करता है स्थायित्वके उपादानोंसे। क्योंकि चिरकालका मनुष्य 'वास्तव' नहीं है, चिरकालका मनुष्य भावुक है ; चिरकालके मनुष्यके मनमें जिस आकांक्षाने प्रकाश्यमें अप्रकाश्यमें काम किया है वह अभ्रभेदी है, वह स्वर्गाभिमुखी है, वह अपराहत पौरुषके तेजसे ज्योतिर्मय है। साहित्यमें इस परिचयकी क्षीणता

यदि किसी इतिहासमें दिखाई दे जाय, तो हमें लज्जित होना होगा ; कारण साहित्यमें मनुष्य अपना ही अन्तरतम परिचय देता है अपने अगोचरमें, जैसे परिचय देता है पुष्प अपनी सुगन्धमें, नक्षत्र अपने आलोकमें। यह परिचय सम्पूर्ण जाति अथवा राष्ट्रके जीवन-यज्ञमें जलाई-हुई अग्निशिखाके समान है। उसीसे जलती है उसकी भावी-कालकी मशाल, और उसके भावी-कालके घरका प्रदीप।

बंगला - रचना : श्रावण १६६०
हिन्दी-अनुवाद : आषाढ़ २००६

चयन

एक विद्यार्थी प्रभात-भ्रमणके समय सहसा मेरे साथ हो लिया। उसने कहा, 'आपसे एक प्रश्न है।' कहकर अंगरेजी शुरू कर दी, 'Is art too good for human nature's daily food'?' मैं समझ गया कि इस प्रश्नके मूलमें अनेक लोगोंमें प्रचलित एक तर्क है। वह तर्क यह है कि साहित्य या शिल्प-रचनाका जो प्रयास हमारी दैनन्दिन जीवनयात्रामें हमारी अनुकूलता करता है, और मनुष्यको अच्छा करके या समृद्ध करके या सुदक्ष करके उसके सामाजिक या अन्य किसी प्रकारकी समस्या-पूर्तिमें सहायता करता है, वह आर्ट (कला) ही श्रेष्ठ है या नहीं ?' अर्थात्, 'केवलमात्र चित्त-विनोदन ही कलाके उत्कर्षका आदर्श है या नहीं ?'

इसका उत्तर देनेके पहले मुझे स्वयं अपनेसे पूछना होगा, 'कलाकारके सम्बन्धमें मनुष्यके इतने विचित्र प्रयासका तात्पर्य कहाँ निहित है ? युग-युगान्तरसे मनुष्य जिन रूप-रचनाओंमें प्रवृत्त है और जो रचनाएँ चिरकालसे सबोंके द्वारा बहु-पुरस्कृत हैं, मानवकी उस चेष्टाका मूल उत्स कहाँ है ? इसका यदि ठीक तरहसे निर्णय किया जा सका, तो हम समझ सकेंगे कि आर्टके

साथ मानव-जीवनका सम्बन्ध क्या है और मनुष्यकी प्राण-धारणकी चेष्टाके लिए उसकी उपयोगिता कितनी है।' इस मूल प्रश्नका अनुसरण करना हो तो बीचमें रुकनेका कोई उपाय नहीं, इसके लिए एकदम तत्त्वज्ञानके आश्रयमें पहुँचना होगा; और तत्त्वज्ञानका आश्रय असीमके राज्यमें है। सत्यकी खोजमें असीमके पथसे यात्रा करना हमारी भारतीय प्रकृतिमें है। पूर्वपुरुषोंने हमारे समस्त सम्बन्धोंको एक चिरन्तन सत्यके साथ सम्बन्धित करके देखनेकी चेष्टा की है। इस अनुशीलनामें उनके साहसका अन्त नहीं था। जो कोई भी अभिव्यक्ति कला संगीत और साहित्यमें उद्घाटित हुई है उसे अनन्ततत्त्वकी पट-भूमिकापर रखकर देखनेसे ही सत्यकी प्राप्ति हो सकती है— इस बातको स्वीकार करना हमारे लिए कठिन नहीं है। मानवीय सत्यको तीन भागोंमें विभक्त करके देखा जा सकता है। उन तीन विभागोंकी शाश्वत बुनियादकी खोज करनी हो तो उपनिषदकी वाणीका आश्रय लिये बिना हमारे लिए और कोई उपाय ही नहीं। [वैशाख १९८१

* * *

परस्परमें परिचयका अभाव ही मनुष्यके प्रभेदको बड़ा बना देता है। जब अन्तरका परिचय नहीं होता तब बाहरके अनैक्यपर ही दृष्टि पड़ती है, और उससे पद-पदपर अवज्ञाका सञ्चार होता है। प्राचीन हिन्दी-कवियोंके ऐसे-ऐसे गीत मैंने सुने हैं कि सुनते ही मुझे ऐसा लगा है कि वे आधुनिक युगके हैं। इसका कारण यह है कि जो कविता सत्य है वह चिरकाल ही आधुनिक है। मैं तुरत समझ गया कि जिस हिन्दी-भाषाके खेतमें भावोंकी ऐसी सुनहरी फसल फली है वह भाषा भले ही कुछ दिन यों ही पड़ी रहे, तो भी उसकी स्वाभाविक उर्बरता नहीं मर सकती; वहाँ फिर खेतीके सुदिन आयेंगे और पौषमासमें नवान्न-उत्सव होगा। इसी तरह किसी समय उत्तर-भारतकी भाषा और साहित्यके साथ मेरा श्रद्धाका योग स्थापित हुआ था। यह श्रद्धाका सम्बन्ध हमारी साधनाका विषय हो, यही मेरी कामना है। 'मा विद्विषावहै।' [काशी : मार्च १९२३

—